श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

ज्ञानार्णव प्रवचन

चतुर्थ भाग

प्रवक्ता :—
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

सम्पादक :—
महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ

प्रकाशक :—
खेमचन्द जैन, सर्राफ
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ
(उत्तर प्रदेश)

प्रथम संस्करण १०००] सन् १९६१ [मूल्य १)६०

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स,
संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ।

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी
श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

(३) वर्णीसंघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय, कानपुर।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली —

१	श्रीमान्	लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ,	सहारनपुर
२	"	सेठ भवरीलाल जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
३	"	कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	"	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	"	श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	"	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	"	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	"	सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	"	दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	"	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	"	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	जगाधरी
१२	"	केवलराम उग्रसैन जी जैन,	ज्वालापुर
१३	"	सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन,	सनावद
१४	"	मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी,	मुजफ्फरनगर
१५	"	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	"	जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर	मेरठ
१७	"	मन्त्री जैन समाज,	खण्डवा
१८	"	बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन,	तिस्सर
१९	"	विशालचन्द जी जैन, रईस	सहारनपुर
२०	"	बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसादजी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	"	सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन, संघी,	जयपुर

२२	श्रीमान्	मंत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	,,	सेठ सागरमल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	,,	बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, जैन	गिरिडीह
२५	,,	बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,	गिरिडीह
२६	,,	सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजफ्फरनगर
२७	,,	सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बड़ौत
२८	,,	गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा,	लालगोला
२९	,,	दीपचंद जी जैन ए० इंजीनियर,	कानपुर
३०	,,	मंत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडी,	आगरा
३१	,,	संचालिका, दि० जैन महिलामंडल, नमककी मंडी,	आगरा
३२	,,	नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस,	रुड़की
३३	,,	झब्बनलाल शिवप्रसादजी जैन, चिलकाना वाले,	सहारनपुर
३४	,,	रोशनलाल के० सी० जैन,	सहारनपुर
३५	,,	मोलहड़मल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	,,	बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन,	शिमला
३७	,,	सेठ शीतलप्रसाद जी जैन,	सदर मेरठ
३८	,, ❀	गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज	गया
३९	,, ❀	बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबड़ा,	झूमरीतिलैया
४०	,, ❀	इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर,	कानपुर
४१	,, ❀	सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या,	जयपुर
४२	,, ❀	बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ.	सदर मेरठ
४३	,, ❀	ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन,	सदर मेरठ
४४	,, ×	जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,	सहारनपुर
४५	,, ×	जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,	शिमला

नोट·—जिन नामों के पहले ❀ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने हैं तथा जिस नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नहीं आया, सभी बाकी है ।

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हू वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ॥ १ ॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥ २ ॥

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥ ४ ॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥ ५ ॥

ज्ञानार्णव प्रवचन चतुर्थ भाग

पवित्रीक्रियते येन येनैवोद्ध्रियते जगत्।
नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्मकल्पाङ्घ्रिपाय वै।।१६६।।

धर्मसे लोककी पवित्रता व उद्धार—जिस धर्मके द्वारा यह जगत पवित्र किया जाता है, इस जगतका उद्धार होता है और जो धर्म दयारूप परम रससे सदा हरा रहता है उस धर्मरूप कल्पवृक्षके लिए हमारा नमस्कार हो। धर्म एक कल्पवृक्ष है। यदि धर्मसे परिपूर्ण कोई है तो धर्मके प्रसादसे जो चाहे सो मिल सकता है। प्रथम तो इस धर्मकी सेवाके एवजमें जगतकी कुछ भी चोजकी वाञ्छा न करना चाहिए। जैसे प्रभुभक्ति वही वास्तविक कहलाती है कि प्रभुकी भक्ति करके प्रभुभक्तिके एवजमें अन्य कुछ न चाहा जाय। यदि धनलाभ या मुकदमेकी जीत या संतानलाभ यह कुछ चाह लिया गया प्रभुभक्तिके प्रसादमें, तो भी प्रभुभक्ति नहीं रही। प्रभुभक्ति निष्कपट भावसे होती है। केवल प्रभुकी ही भक्ति रहे, प्रभुके गुणोंका ही स्मरण रहे ऐसी निष्कपट भक्ति हो तो वह प्रभुभक्ति नहीं है। यदि धनकी चाहमें प्रभु की भक्ति की जा रही है तो वह प्रभुभक्ति नहीं है धनभक्ति है। हृदयमें जसका आदर हो भक्ति तो उसकी कहलाती है। यदि प्रभुका आदर है तो वह प्रभुभक्ति है। यों धर्मकी भी भक्ति वास्तविक वह है कि धर्म करके ससारकी कुछ भी चीज न चाही जाय। यदि ससारकी वस्तु चाह ली गयी तो उस वस्तुकी भक्ति हुई धर्मकी भक्ति नहीं हुई। इस पद्धतिसे यदि धर्मका पालन किया जाय तो वह धर्म कल्पवृक्ष है।

धर्म कल्पवृक्षका प्रसाद—यहाँ जिसको जो कुछ मिला है वह सब धर्म कल्पवृक्षका प्रसाद है। जिसने पूर्व जन्ममें धर्म किया था, त्याग किया था, तपदान किया था उसका यह पुण्य फल रहा है जो आज कुछ अच्छी स्थिति मिली है। धर्म करनेके योग्य हमें सब वातावरण मिला है, आजीविकाकी स्थिरता भी मिली है, करोड़ों मनुष्योंकी अपेक्षामें अपनी स्थिति अच्छी है यह सब धर्मका प्रताप है। इस धर्म कल्पवृक्षमें वह अद्भुत प्रताप है कि इसकी छत्रछायामें बैठकर जो हितकी बातें हैं वे सब सिद्ध हो जाती है। इस संसारमें किन्हीं भी बाह्य वस्तुवोंकी ओर दृष्टि लगायी तो उससे कुछ सिद्धि नहीं है। प्रत्युत आकुलता ही आकुलता है, किन्तु धर्म शरण गहनेमें सर्वत्र निराकुलता ही निराकुलता है।

जगतमे दु खोंका प्रसार—जगतमें सर्वत्र देखो दु ख ही दु.ख छाया है। पशुवोकी दशायें देखो, कैसे ये लाये जाते है, न चलें तो डडोंसे पीटे जाते है। उन पशुवोंके मारने वालोंके चित्तमें यह बात नहीं आ पाती कि किसे मार रहे है? ऐसा ही तो मेरा रूप था हम भी ऐसे पशु बने। और इन्हें मार रहे हैं तो इसके फलमें हम भी ऐसे ही बनगे, पिटेंगे यह ध्यान नहीं जाता है पशुवोंके मारने वालोंके चित्तमे। यह तो मारनेकी बात है। जो लोग पशुओंकी हिंसा कर डालते है केवल एक मास खानेके शौक में उनके चित्तमें कितनी क्रूरता समायी हुई है और चूँकि वे मारने वाले भी जीव हैं तो उन्हें थोड़ा सा यह भान हो जाता है कि हम बुरा कर रहे हैं, पर बुरा काम करनेकी कितनी तीव्र कषाय जगी है और मिथ्यात्वका इतना गहरा रंग चढा है कि रहे सहे डरको मिटानेके ख्यालसे वे भगवान्का नाम लिया करते हैं और कुछ भी धर्मके बहाने पाठ बना डालते है कि जिससे वे यह सन्तोष कर लेते कि हमने पाप नहीं किया। लेकिन पाप तो पाप ही है। कौन पूछता है इन कीडे मकोड़ों को, इन पक्षियोंको जो चाहे शिकारी निर्दयतासे मार डालता है तो सारा जगत् दु खोंसे भरा हुआ है।

निगोदसे निकलनेकी दुर्लभता—इस जीवका मूल आदि निवास निगोदभव था। निगोद निवास प्रसिद्ध नहीं है। जैन सिद्धान्तमें ही इसकी व्याख्या की गई है। इतने सूक्ष्म जीव होते हैं ये कि जिनके शरीरका आकार आप कुछ बता ही नहीं सकते। पानीका एक पतला बूंद जमीन पर गिर जाय, वह बूंद जिस जगह गिरता है उतनी जगहमे तो अनंत निगोदके जीव समा जाते हैं और एक शरीरके अनन्त निगोद जीव मालिक रहते हैं। जैसे हम आप यहाँ एक शरीरके एक मालिक हैं। हमारे शरीरके ५० मनुष्य तो मालिक नही हैं, लेकिन निगोदभवमे तो शरीर एक है और वह अनन्त निगोद जीवोंका रहता है और इसी कारण जो जीव मरता है तो उसके साथ ही वे सब जीव मरते हैं और जन्मता है तो उसके साथ सब जन्मते हैं और एक बार नाड़ीके चलनेमें जितना समय लगता है उतने समयमें १८ बार मरण हो जाता है। उनके दु खको कोन जान सकता है, ऐसा कठिन भव हम आप लोगोंका सबका था प्रारभमें। जितने सिद्ध भगवान हुए हैं उनकी भी प्रारम्भमें निगोद अवस्था थी. वे भी तो ससारसे मुक्त हुए। समस्त जीवोंकी प्रारम्भिक दशा निगोद अवस्था थी। तो उस निगोदसे ही निकलना बहुत कठिन था। अनन्त निगोदिया जीव ऐसे अब भी निगोदमे है जो कभी भी निगोदसे नही निकले है। अब तक अनादिकालसे निगोदमे चले आये हैं।

निगोदसे निकलकर प्रत्येक स्थावरोमे भ्रमण—हम आपकी स्थिति देखो इस समय कितनी उत्तम मिली हुई है। हम आप कितनी कुगतियोंसे पार होकर आज मनुष्य हुए हैं? निगोदसे निकले तो अन्य स्थावरोंमें निवास रहा। निगोद भी स्थावर जीव हैं और वह वनस्पतिका भेद है। निगोद साधारणवनस्पतिको कहते हैं। उस निगोद दशासे निकला तो यह जीव पृथ्वीकाय हुआ, जलकाय हुआ, अग्निकाय हुआ, वायुकाय हुआ और प्रत्येकवनस्पतिकाय हुआ। इन स्थावरोंमें बहुत काल भ्रमण किया। वहाँसे भी निकलना कठिन था। सब एकेन्द्रियोंमें सिर्फ एक स्पर्शनइन्द्रिय है। उस स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा वे अपना कार्ययोग करते है और उसीको भोगा करते हैं जो कुछ भोगा जा सकता है।

एकेन्द्रियसे निकलकर विकलत्रिकोंमें भ्रमण—एकेन्द्रियसे निकले तो दो इन्द्रियमे जन्म हुआ। एकेन्द्रियकी अपेक्षा दो इन्द्रियका जीवन जरा महान् है। यहाँ जिह्वा और उत्पन्न हो गयी। जैसे केंचुवा, लट, जोक, शंख, सीप, कौड़ी इनमें रहने वाले जो जीव है वे दो इन्द्रिय जीव हैं। इनके रसना इन्द्रिया वरणका क्षयोपशम हुआ है। रसनाइन्द्रियजन्य ज्ञानके वे अधिकारी बने। दो इन्द्रियसे अब यह जीव त्रस कहलाता है। त्रस इन्द्रियके घातसे मास उत्पन्न होता है। एकेन्द्रिय जीवके घातसे मांस नहीं होता। वह उनका शरीर है। दो इन्द्रियसे बड़ी कठिनाईसे निकला यह जीव तो तीनइन्द्रिय हुआ। अब यह ज्ञानका विकास जरा और बढ़ गया। घ्राणइन्द्रियसे भी ज्ञान करने लगा। लेकिन मन बिना बेहोश है। केवल इन्द्रियजन्य ज्ञानको भोग रहा है, पर विवेक नहीं उत्पन्न हुआ। तीनइन्द्रियसे निकलकर चार इन्द्रिय हुआ। यहां एकइन्द्रियकी प्राप्ति और हुई। नेत्रइन्द्रियावरणका क्षयोपशम मिला, ज्ञान भी विशेष मिला लेकिन मन अब तक नहीं है। भँवरा, ततैया, मक्खी, मच्छर ये सब चतुरिन्द्रिय जीव है। यह कहानी हम आप सबकी है, कैसे-कैसे भव पाये हैं, कैसे कैसे क्लेश भोगे है और आज कुछ अच्छी स्थितिमें आये हैं तो यहा ऐसी स्थिति बनाली है कि विषयवासनाओं में फंस गये हैं।

पञ्चेन्द्रियोंमें जन्मकी दुर्लभता—चार इन्द्रिय जीवसे किसी तरहसे यह निकला तो पञ्चेन्द्रिय हुआ। पञ्चेन्द्रियमे कर्णइन्द्रियजन्य ज्ञानकी उपलब्धि हो गयी। सुन करके भी इसके ज्ञान होने लगा। पञ्चेन्द्रियमें भी असैनी हुआ तो उन्हीं विकलत्रयोंकी भाति अविवेकी रहा। कभी सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय हुआ तो वहाँ विषयकषायोंसे मलिन वहाँ भी अविवेकी रहा तो उससे भी क्या लाभ हुआ? हम आप सब पञ्चेन्द्रिय हैं, मन सहित हैं, और साथ ही यह भी निरखले कि अनेक जीवों से हम आपकी बहुत

अच्छी स्थिति है।

मनुष्योंमे क्लेशका निर्माण—मनुष्य होकर भी जो जीवन एक बोझीला सा हो जाता है यह सब तृष्णाका प्रसाद है। तृष्णाकी तो कहीं हद ही नहीं है। १०० हों तो हजार, हजार हों तो लाख, लाख हों तो करोड़, यों इस वैभवके बढ़ने से भी कभी सन्तोष नहीं मिलता। और गजबकी बात यह देखो कि उस धनसे कुछ अपना लाभ नहीं। जिसके लिए कमाया जाता है। सबको दो रोटियोंसे प्रयोजन है और थोड़ा ठंड गर्मीसे बचने के लिए कपडेका प्रयोजन है, इससे अधिक धनका कोई खास काम नहीं है, सिर्फ दो रोटियोंकी पूर्ति सबके लगी हुई है, जो लोग धनी होने की होड़ मचा रहे हैं वे इस असार मायामयी दुनियामें अपना नाम जाहिर करनेके ख्यालसे होड मचा रहे हैं।

यथार्थ उद्देश्यके बिना भटक—यदि यह सही उद्देश्य बन जाय तो भला है कि हम मनुष्य हैं और हमें जैनशासन मिला है तो इसीलिए मिला है कि हम इस जैन धर्मसे लाभ लूट लें, आत्मामें खूब ज्ञानप्रकाश बढ़ायें जिससे यह मेरा आत्मा मेरे आत्मामें ही मग्न होकर आनन्दरससे छकित रहे, ऐसी हम प्रवृत्ति बनायें। यह काम करने के लिए हम मनुष्य हुए हैं, पर करने क्या लगे हैं? काम क्या था और करने क्या लगे हैं? तो जब तक धर्मका शरण नहीं मिला, धर्मके मार्ग पर हम आ नहीं सके तब तक तो अज्ञानी संसारी प्राणियोंकी भांति अपना जीवन समझिये। लाभ कुछ नहीं हुआ।

समागमकी स्वप्नवत् मायारूपता—जितना जो कुछ भी यहाँ नजर आ रहा है यह सब स्वप्नकी तरह है, जैसे स्वप्नमें स्वप्न देखने वालेको कुछ भी पता नहीं है, मगर वह स्वप्न देख रहा है और स्वप्नमें इसे सब चीजें सच-सच लग रही हैं। स्वप्नकी ये बातें सच नहीं हैं। यह कब विदित होता है जब स्वप्न भंग हो जाता है, जब नींद खुलती है तब मालूम पड़ता है कि ओह! यह सब कोरा स्वप्न था। इसी तरह ये सब चीजें इस मोही जीवको मोहनींदमें सच-सच लग रही हैं, है ही तो यह मेरा बढ़िया मकान, मेरे ही तो हैं ये पुत्र स्त्री वगैरह। मेरा ही तो देखो कितना नाम और यश दुनियामें चल रहा है, सारी बातें इसे बहुत-बहुत सच लग रही हैं, लेकिन है कुछ नहीं यह बात कब विदित होती है? जब मोहकी नींद टूटे, ज्ञानका प्रकाश मिले तब यह विदित होता है—ओह! मेरा कुछ भी नहीं था। जैसे आप लोगोंका जो-जो समागम विघट गया है अब तक भी कौनसा घर बचा जिस घरमें मृत्यु न हुई हो किसीकी, तो अपने ही कुटुम्ब में जिन-जिन प्रियजनों की मृत्यु हो गयी है उनके विषयमें कुछ-कुछ यह

ख्याल बनता है कि मेरा कुछ नहीं था, यह सब एक स्वप्नकी चीज थी, तो जैसे बीती हुई बातोंमें कुछ-कुछ इतना अंदाजा बनने लगता है कि कुछ न था, वह सब स्वप्नकी जैसी बात थी, ऐसे ही जिनका समागम आज मिला हुआ है उनके बारेमें इतनी दृष्टि बन जाय कि ये भी मेरे कुछ नहीं हैं। यह सब केवल कल्पनाओं से मान लिया गया है स्वप्नवत्। यह सब ही स्वप्नवत्, मालूम किया जाने लगे तो अभी ही देख लो संसार शरीर भोगों से वैराग्य हो सकेगा और हम धर्मधारणकी ओर लग सकेंगे।

धर्मके बिना शरण्यताका अभाव—यह जगत कठिन है, क्लेशमय है। इस संसारमें हम आपकी रक्षा करने वाला सिर्फ धर्म है, और किसीका सहारा तकना सब व्यर्थकी बात हैं। अमुक हमारा बड़ा मित्र है। अरे कषायसे कषाय मिल गयी तो उसे मित्र मान लिया। थोड़ी भी बात प्रतिकूल हो जाय तो वह ही मित्र पूरा बदल सकता है और मित्रताके बजाय वह शत्रुता अंगीकार कर सकता है। किसको मित्र मानते हो? किसको शत्रु मानते हो? आज जिससे आपकी कषाय नहीं मिल रही है और जिसको आप शत्रु समझ रहे हैं, कोई घटना होने पर कहो एकदम चित्त बदल जाय और वह आपका सब मित्रोंसे भी भला निष्कपट हार्दिक मित्र बन जाय। तो दुनियामें शत्रु भी कौन है, ये सब जीवोंके अपने-अपने परिणमन हैं। इन परिमनोंमे अपना कोई निर्णय न बनायें, इन सबके ज्ञाताद्रष्टा रहें। किसका शरण गहते हो इस लोकमें? जिसे सोचते हैं कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरी आज्ञाकारिणी स्त्री है या मेरा यह निकट सम्बधी हैं, ये कोई मेरे विपरीत हो ही नहीं सकते, वे भी के वे ही कोई अचानक प्रतिकूल घटना घटने पर ऐसे प्रतिकूल हो जायेंगे जिसे अपने कहने लगते कि इससे तो कोई शत्रु ही भला था, किसका शरण आप गहते हैं?

धर्मकी वास्तविक शरण्यता—शरण तो भैया एक धर्मका ही सत्य है, जो धर्म कभी भी छल नहीं करता। किसी भी समय आपको कोई भी धोखा नहीं दे सकता। धर्मका परिणाम है तो वहां नियमसे शान्ति है। यदि चित्तमें अशान्ति है तो समझो कि हम धर्मसे विमुख हो रहे हैं इसी लिए अशान्त हैं। बाहरी उपद्रवोंसे अशान्ति नहीं हुआ करती, किन्तु खुदके हृदयकी कल्पनाओंसे अशान्ति बनती है। यदि बाहरी घटनाओंसे अशान्ति हुआ करती होती तो सुकुमाल, सुकौशल, गजकुमार यदि बड़े बड़े सुकुमार समृद्ध महापुरुषोंको कैसे कैसे उपद्रव तिर्यञ्चोंने मनुष्योंने किया। गजकुमारके शिरपर गजकुमारके ही स्वसुरने मिट्टीकी पाट बाँधकर कोयला जलाया। सुकौशलकी माता ही सिंहनी बनकर सुकुमालको भक्षण करने लगी थी। सुकुमालकी भावज ही स्यालिनीके रूपमें आकर सुकुमाल

को विदीर्ण करने लगी थी। ऐसे उपद्रवोंमें भी उन्होंने अपना स्वरूप सम्भाला, अपने धर्मकी रक्षाकी, बाहरी विकल्पोंमें नहीं पड़े तो उनका कल्याण हुआ। तो दूसरों का क्या बर्ताव है, क्या प्रतिकूलता है, क्या परिणति है, उससे अशान्ति नहीं मिलती, खुदमें कल्पनाएँ जगा उससे अशान्ति मिलती है। तो अपनी अशान्ति मेटनेके लिए बाहरमें उद्यम करना है या अपने भीतर उद्यम करना है? अपने अंतरंगमें उद्यम करना है। वह उद्यम है धर्म। धर्मका शरण गहो, नियमसे शान्ति होगी।

धर्ममें शान्तिका स्वरूप--धर्म वहीं होता है जहां हृदयमें दया बसी रहती है। दयासे जो भरपूर है, हरा भरा है ऐसा मनुष्य अपनेमें कभी अशान्तिका अनुभव नहीं करता। यह मैं आत्मा तो अपने स्वरूपमें ऐसा ही एकाकी हूं स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप हूं। मेरे इस आत्माको कौन सी मुसीबत है? मेरा ज्ञानानन्द स्वरूप है, मैं सब तरहसे समृद्ध हूं, अधूरा नहीं हूं, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अपने आपमें सत् रूप हूं। मुझमें कोई कमी नहीं, ऐसी अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि जब नहीं रहती और बाहर इन जड़ पदार्थोंमें दृष्टि फंसा करती है तब इस जीवको अशान्ति उत्पन्न होती है। इस वेदनाकी रक्षा करने में समर्थ एक धर्म ही है। इस धर्मके द्वारा लोकपवित्रिता होती है। जहां धर्मात्मा जन निवास करते हैं वह क्षेत्र पवित्र हो जाता है। जहांसे अनन्त चतुष्टयसम्पन्न अरहत भगवानका विहार हो जाता है वह क्षेत्र पवित्र हो जाता है। धर्मकी ही कृपासे संसार से उद्धार होता है। अनेक पापोंमें व्यसनोंमें पड़े हुए इस मलिन जीवका उद्धार क्या पाप करेगा? मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, काम इन ६ वैरियोंसे सारा यह जीवलोक आक्रान्त है, पीड़ित है। इन मलीमस, विकार पीड़ितोंका उद्धार क्या कोई विकार करेगा? धर्म करेगा।

धर्मके प्रतापसे संकटोंका विनाश--अपना जो एक विशुद्ध स्वरूप है अर्थात् अपने आपकी सत्ताके कारण जो कुछ मेरेमें तत्त्व पाया जाता है उस तत्त्वकी दृष्टि करें, उसकी ओर अपना झुकाव बनायें, उसकी ही आस्था रखें, उसमें लीन होनेका यत्न करें ऐसा करना ही एकमात्र अपना कर्तव्य समझें तो इस धर्मपुरुषार्थके प्रतापसे मोक्षका मार्ग मिलेगा, संसार के संकटोंसे छूटनेका रास्ता मिलेगा और अपनी रफ्तार वैसी ही बेढंगी बनी रही जो अब तक चली आयी है तो उस रफ्तारमें रहनेपर हम आप का मनुष्य होना न होना सब बराबर है। कर्तव्य है अपना कि धर्मका शरण गहें। धर्मरूपी कल्पवृक्ष समस्त संकटोंको दूर कर देगा। उस धर्म रूप कल्पवृक्षको नमस्कार हो।

दशलक्षणयुतः सोऽय जिनेर्धर्मः प्रकीर्तित। ।
यस्यांशमपि ससेव्य विन्दन्ति यमिनं शिवम् ।। २००।।

कल्याणकारिणी धर्मजिज्ञासा—इस जगतको पवित्र करने वाला और जगतका उद्धार करने वाला एक धर्म ही है, जिस धर्मका अंश मात्र भी सेवन करके योगीश्वर शिवका अर्थात् कल्याणका अनुभव करते हैं। धर्मका अंशमात्र भी सेवन करनेकी बात यों कही गई हालाकि अंशमात्र सेवन से मुक्ति नहीं मिलती लेकिन जो अंशमात्र भी सेवन करे उसके धर्मकी परिपूर्णता हो जाती है और वह निर्वाण सुखको प्राप्त करता है। वह धर्म क्या है जिस धर्मका सेवन करके, धर्मकी उपासना करके जीव ससार के सकटोंसे सदाको छूट जाता है। यह बात सब जीवोंके लिए कही जा रही है। सब जीवोंकी भांति हम भी जीव हैं। हमें शान्ति चाहिए। शान्तिका क्या उपाय है? उसपर हम चलकर शान्ति प्राप्त करेंगे ऐसा चित्तमें सकल्प होना चाहिए।

वस्तुस्वभावरूप धर्म व उसका पालन—पदार्थ सब अपने स्वरूपसे अपनी जातिरूप हैं। हम आप सब जो शरीरके भेदसे भिन्न-शरीरमें पडे हुए हैं सबका स्वरूप एक है, वह स्वरूप क्या है? ज्ञान। सब जीवोंमें ज्ञानस्वरूप मौजूद है। ज्ञान बिना कोई नहीं है। ज्ञान अपना स्वरूप है और यह ज्ञानमय मैं पदार्थ हू। इस मुझ ज्ञानमय पदार्थको शान्ति चाहिए और शान्तिके उपायपर यत्न करना चाहिए। इतना ही मात्र अपने साथ रिश्ता समझें। जिसे कल्याण करना हो वह जब कल्याणके लिए अग्रसर होता है तो उसको अपने आपमें एकरूपताका अनुभव करना चाहिए। शरीरके भेदसे जो समाजमें भेद पड़ गए हैं इन भेदोंपर दृष्टि रखकर धर्म पाया नहीं जा सकता। धर्म तो जीवका निज स्वरूप है। जब इस जीवको नानारूप अनुभव करने लगे कोई तो धर्मका परिचय नहीं मिल सकता। इससे इन पर्यायोंके सस्कारोंको छोड़कर धर्मकी बात सुननी चाहिए। मैं अमुक जातिका हू, अमुक कुलका हू, अमुक वातावरणका हू, ऐसा अपने आपमें विश्वास यदि बना हो तो धर्मका स्वरूप हृदयमें आ नहीं सकता। इस कारण इन सब क्षोभोंको विकल्पोंको छोड़कर अपने आपको ऐसा देखने लगे कि मैं तो जीव हू। और इस मुझ जीवको शान्ति चाहिए। ऐसा अपने आपको सही रूपमें एक रूप समझ कर धर्मकी बात सुनी जाय तो अवश्य सफलता मिलेगी।

जीवका धर्म और शरण्य—इस जीवको केवल धर्म ही शरण है। वह धर्म क्या है उसको सही रूपमें तो चूँकि वह अभेद है अतः वचनोंसे नहीं बताया जा सकता। फिर भी उसको समझके लिए कुछ व्यवहार कथनका

आश्रय लेकर समझना है। धर्म तो प्रत्येक पदार्थके साथ लगा हुआ है क्योंकि पदार्थके स्वभावका नाम धर्म है। हम आप जीव हैं और इसका स्वभाव है ज्ञान, शुद्ध जानन। रागद्वेषके लपेटमें धर्म नहीं है। क्योंकि हम आपका वह स्वभाव नहीं है। धर्म वह होता है पदार्थका जो उस पदार्थ में सदा रहे। जो कभी रहे, कभी न रहे वह पदार्थका स्वभाव नहीं और धर्म भी नहीं है। जैसे जीवमें क्रोध कभी रहता, कभी नहीं रहता सो वह क्रोध जीवका धर्म नहीं है। घमण्ड भी कभी रहता, कभी नहीं रहता, वह भी धर्म नहीं है। मायाचार और लोभ भी इस जीवमें कभी रहता कभी नहीं रहता, इसलिए छल कपट करना, लोभ करना भी धर्म नहीं है। कषाय करे तब भी कुछ न कुछ ज्ञान चलता ही है, न करे तब भी ज्ञान है। बेहोश भी पड़ जाय तब भी अन्तरमें ज्ञान है, ज्ञानी रहे वहाँ भी ज्ञान है, मूर्ख है उसके भी ज्ञान है। ज्ञानके बिना जीव कभी नहीं रहता, इसलिए जीवका स्वरूप ज्ञान है।

धर्मपालन—जब यह कहा जाय कि धर्म करो तो उसका अर्थ यह लगावो कि सिर्फ ज्ञान करे, रागद्वेष न करें। धर्मपालन करे इसका अर्थ इतना है कि मोह रागद्वेष न करे और केवल हम जाननहार बनें। यह धर्म की निष्पक्ष व्याख्या है। इसमें न मजहबका रंग है, न रागद्वेषका रंग है, युक्ति और अनुभवसे भी देख लो जब आप रागद्वेष न करेंगे और सिर्फ जाननहार रहेंगे तो आपको शान्ति मिलती है या नहीं। प्रयोग करके अनुभव करके देख लो, जब कभी आप किसी रागद्वेषमोहमें पड़ेंगे, अनेक विकल्प उठायेंगे तो उन कल्पनाओंसे आप दुःखी रहा करेंगे। हम आप प्रभुको पूजते हैं तो क्यों पूजते हैं, उनमें क्या विशेषता है कि हम तो पूजें और वे पूजें ? अरे उनमें ये रागद्वेष मोह नहीं रहे, वे तीन लोक तीन कालके मात्र जाननहार हैं अर्थात् वीतराग सर्वज्ञदेवके ऐसे शुद्धस्वरूप की जब हम आराधना करते हैं, पूजा करते हैं तो हम लोगोंको स्वयमेव ज्ञानोत्साह प्राप्त होता है।

दशलक्षणमय धर्म—धर्मका स्वरूप एक है, जीवका स्वरूप एक है, आनन्दका स्वरूप एक है, फिर भी विश्लेषण करके इस धर्मका १० रूपोंमें यहा वर्णन किया जा रहा है। उस धर्मके १० अंग हैं—क्षमा, नम्रता, सरलता और निर्लोभता, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य इन १० धर्मरूप वृत्ति हो तो इस जीवको न क्लेश रहेगा और न जन्म-जन्म भटकना पड़ेगा।

क्षमाधर्म—धर्मका प्रथम अंग है क्षमा—क्रोध न करना। क्रोधसे कितनी हानिया होती हैं उन्हें सब लोग जानते हैं। क्रोध करने से फिर

में नम्रता रहे, विनय रहे तो हम धर्मके पात्र हैं, सुख शान्ति पा सकते हैं।

आत्मत्वका नाता माननेका प्रभाव—मूल बात तो यह है जिस पर हम आप सबको बहुत-बहुत ध्यान देना चाहिए। वह बात यह है कि जब आप धर्मपालनकी बात मनमें लायें तो सिर्फ अपनेको मैं जीव हू, इतना ही देखें, मैं इस जातिका, इस कुलका, इस मजहबका, इस वातावरणका हू इस तरह न देखें। यदि वास्तविक मायनेमें धर्म चाहिए और धर्मके फलमें शान्ति चाहिये तो अपनी सिर्फ यह नीति लायें कि मैं जीव हू, मुझे धर्म चाहिए, मुझे धर्म खोजना है। मेरा धर्म क्या है और उस धर्मका पालन करके शान्त होना है, यह श्रद्धा और दिशा लायें तो धर्मका मार्ग अवश्य मिलेगा। यहाँ धर्मके नामपर कुछसे कुछ बन जानेकी चेष्टाका पक्ष क्यों बन जाता है, उससे लाभ नहीं है। मुझे कोई जाने या न जाने, मैं यदि अपने आपमे धर्म कर लूँ तो मेरा बेड़ा पार हो जायगा। और जिसका बेड़ा पार होगा उस ही पुरुषके निमित्तसे दूसरेका भी भला होगा। इससे अपनेको केवल जीवका नाता मानकर, जीवका धर्म क्या है? उसे मुझे करना है, ऐसी दृष्टि बनायें।

आर्जव धर्म—धर्मके अंगोंमें तीसरा अग बताया है सरलता। जो मनमें हो वह वचनसे कहे, वैसा ही कायसे परिणमन करे। मनमे कुछ और हो, वचनमें कुछ और हो और कायसे और चेष्टा करे यही मायाचार है। मायाचार अधर्म है। किसके लिए मायाचार किया जा रहा है? इतनी हिम्मत बनना चाहिए कि चाहे जो उपद्रव आते हैं वे सब आयें किन्तु हम अपना धर्म न छोड़ेंगे। धर्म क्या? सरलता। मयाचार न रखना। जो बात सही है वैसा ही सोचना, वैसा ही बोलना, वैसा ही करना सरलता धर्म है।

वैतृष्ण्य धर्म—चौथा अग बताया हैं निर्लोभता, उदार परिणाम होना। अब बतलावो प्राय समर्थ तो सब हैं किन्तु लोभका रंग इतना चढा हो कि पासके लोग भूखे दुखी रोगी रहते हों और समर्थ होनेपर भी उनका दुःख दूर न करें, कुछ अपने लोभका त्याग न करें तो बतलावो वहाँ धर्मकी बात कैसे समा सकती है? यह सोचना भूल है कि हम पैसेको बनाये रहें, खर्च न करें, रखे रहें तो यह पैसा जुड़ जायगा। वह तो पुण्यसे जुड़ता है। जैसे कुवेंमें से कितना ही पानी निकालते जावो, कुवा पानीका सचय करके नहीं रखता, कुवेमे स्रोतोंसे पानी आता रहता है ऐसा ही वैभव समृद्धि की प्राप्तिका उपाय है पुण्य, धर्म। जिन्हें सासारिक सुख भी चाहिए उनका भी कर्तव्य है कि वे धर्मका पालन करें। धर्मका यह अग है निर्लोभता, पवित्र मन हो जाना। लोभ करना अधर्म है और

का पात्र रहता है। नम्र पुरुष स्वयं सुखी रहता है और उसके वातावरणमें आये हुए और लोग भी सुखी रहते हैं किन्तु घमंडी खुद अपने आपमें दुःखी रहता है और उसके निकट जो इसके मित्र हों वे भी दुःखी हो जाया करते हैं। घमंडी पुरुषको कोई मित्र बनाकर रखे तो उससे शान्तिकी आशा नहीं रखी जा सकती है। घमंडी पुरुषको अपने घमंडकी सिद्धिके लिए यदि मित्रका अपमान भी करना पड़े तो वह इसके लिए भी तैयार रहता है। मान करना अधर्म है। नम्रतासे रहना, विनयपूर्वक रहना यह धर्म है। जो दूसरोंको अपना कुछ समझेगा तो दूसरे भी इसे अपना समझेंगे।

गर्वित होनेका अनवकाश—दुनियामें सारभूत बात क्या है जिसके लिए घमंड बगराया जाय? न यह खुद रहेगा, न दिखने वाले ये लोग रहेंगे। यह संसार आने जाने वालोंकी सराय है। कोई यहाँ आज है कल नहीं है, जो कल तक न था वह आज आ गया। यहाँ सारभूत बात कुछ न मिलेगी। फिर किसके लिए अभिमान करते हो? घमंड करने लायक कोई बात हो तो चलो घमंड करने से कुछ सिद्धि तो मिली, लेकिन यह घमंड का भाव इतना बुरा है और इतना निःसार है कि इससे कुछ सिद्धि भी नहीं है, किन्तु अभिमानी पुरुष इसमें भ्रष्ट रहा करता है। कभी कभी क्रोधसे भी कोई खुदगर्जीकी बात सिद्ध हो सकती है। कभी माया लोभसे भी बात बन सकती है। पर मान करनेसे कौन सी बात बनती है? बनती हो तो बिगड़ जाय। मान करना अधर्म है नम्रता करना धर्म है। विनयपूर्वक रहना धर्म है।

मार्दव और ज्ञानका निकट सम्बन्ध—भैया! धर्म तो है ज्ञान, और ज्ञान प्रकट होता है उस पुरुषके जो नम्र होता है, विनयशील होता है। नीतिमें बताया है कि विनय विद्याको प्रदान करती है और खास करके धर्मसंबंधी विद्या तो विनय बिना नहीं आ सकती। लौकिक विद्या तक भी विनय बिना नहीं आती। कोई छोटा भी किसी कलाका मास्टर हो उससे कोई धनी पुरुष सीखे, उसे पैसा भी बहुत देता हो, पर बिना विनयके वह विद्या भी उसे आ नहीं सकती, फिर धर्मकी बात ही अनोखी है, तो वह विनय बिना आ ही नहीं सकती, बल्कि यह समझो कि पढ़ाता भी कोई नहीं है, शिष्य अपने विनय भावके कारण गुरुसे बात खींच लेते हैं, एक कविने इस विषयमें बड़ा प्रकाश डाला है, पढ़ाने वाला कौन? शिष्य स्वयं अपने हार्दिक विनयसे इस प्रकार वह समर्थ बन जाता है कि गुरु की विद्याको खींच लेता है, तो ज्ञानकी बात विनय बिना नहीं आ सकती, और ज्ञान ही धर्म है, तो धर्मका एक अंग है नम्रता, विनय। हमारे जीवन

इस मनुष्यका अन्तिम लक्ष्य है ब्रह्मचर्य। ब्रह्म मायने आत्मा उसमें चर्य मायने मग्न हो जाना। आत्मामें मग्न हो जाना यह ही है धर्मका उत्कृष्ट रूप। धर्म किसलिए किया जाता है? आत्मा आत्मामें मग्न हो जाय, किसी भी प्रकारकी कल्पनाएँ न उठे, रागद्वेष मोह ममता संकल्प विकल्प चिन्ता शोक किसी भी प्रकारके विकल्प न रहें और यह आत्मामें निर्विकल्प मग्न हो जाय, यही है धर्म करनेका असली प्रयोजन। इस प्रयोजनको छोडकर यदि अन्य प्रयोजन मनमें आते हों, इस दुनियामें अपना मजहब फैलाना, लोगोंको अपने धर्मकी बात बताना, अपने धर्मका प्रचार करना लोग समझ जायें कि यह समाज बहुत उत्कृष्ट है, अथवा लोकमें यश मिलता है धर्मकी बात करने से। सो इस उपायसे यश मिले अथवा विषय कषायके प्रयोजन सिद्ध होते हैं धर्मके करने से, सुख समृद्धियां होती हैं, स्वर्ग मिलता है, पुण्य बँधता है आदि अन्य प्रयोजन रखकर धर्मपालन करे कोई तो वह धर्मपालन नहीं है। जिसने अपने उद्देश्य पहिले बनाये ही नहीं हैं उसको धर्मकी दिशा नहीं मिलती। धर्म करनेका मूल प्रयोजन है यह ब्रह्मचर्य। आत्मा आत्मामें मग्न हो जाय। तो इस ब्रह्मचर्यकी सिद्धि के लिए हमें क्या करना पडता है? वह ढंग बताया है १० अंगोंमें।

सत्यधर्मका विकास—पहिले तो आत्माकी सफाई करें। कषायोंसे मलिन यह आत्मा कषायोंसे दबकर अपने प्रभुका घात कर रहा है और प्रभुमें मग्न नहीं हो सक रहा है। अतः पहिले कषायोंका अभाव करना गुस्सा न रहे, अभिमानकी बात न आये मायाचार न रहे, किसी भी परवस्तुका लोभ न रहे। जब ये चारों कषायें नहीं रहती हैं तब आत्मामें सत्य प्रकट होता है। जब तक कषायें हैं तब तक यह आत्मा असत्य है, गलत है। स्वच्छता होने पर ही समीचीनता प्रकट होती है। तो चारों कषायें जब नहीं रहीं तब इसमें ५वां अतः सत्य धर्म प्रकट हुआ। अब सफाई आयी आत्मामें। कषायोंके रहते हुए आत्मामें सच्चाई नहीं रहती। मोटे रूपमें भी देखिये तो सत्यपालनकी बात तब तक नहीं बन पाती है जब तक कषायें मंद न हों। जिसे गुस्सेकी प्रकृति पडी है वह गुस्सेमें कई बार झूठ बोल सकता है। अभिमानी लोग झूठ बोला ही करते हैं। मायाचारमें तो झूठमूठका ही काम है। लोभ कषायके वश होकर लोग झूठ बोलते ही हैं। तो जहां कषाय जग रही है वहां सच्चाई कैसे हो सकती है और जब तक सच्चाई नहीं आ सकती है तब तक धर्मका पालन सही ढगसे हो ही नहीं सकता। इसी कारण धर्मके प्रकरणमें क्षमा, नम्रता, सरलता और उदारताके पश्चात् सत्यका क्रम दिया है।

संयमधर्म—जब आत्मा सत्य हो गया तो उसका ज्ञान संयत बन

लोभ न रहे, हृदय उदार रहे वह धर्म है।

धर्मस्वरूपके अवगमका स्वयसाधन— भैया ! जो धर्म करेगा वह नियमसे शान्ति पायगा। मैं जीव हू, मुझे अपना धर्म चाहिए, इस भावना को रखकर जीवनमे बढ़ें और सचरूपसे धर्मकी खोज करें तो धर्म अवश्य मिलेगा। हम आप ज्ञानी तो है ही। ज्ञान स्वरूप है यदि ऐसा सत्य आग्रह करलें कि मुझे बहकाने वाले दुनियामें बहुत लोग हैं। कोई कहता है इस तरह बढ़ो, इस तरह रहो, इस तरह हाथ चलावो, वहाँ धर्म है, कोई बलीमें धर्म कहता, कोई किसीमें धर्म कहता। बहकाने वाले साधुजन भी बहुत हैं। हम किसको अपना धर्म मानें, कहाँ हम अपना निर्णय बनायें ? यदि ऐसा कुछ सन्देह हो, उलझन हो और जो कि प्राय जगतमें हो रहे है तो आप केवल एक उपाय करे। मुझे किसीकी नहीं सुनना है। मैं स्वय ज्ञानरूप हू ना, तो अपन आप मुझमे वह प्रकाश आयगा जो यह बतावेगा कि धर्म यह है।

धर्मस्वरूपके स्वयसमाधानके लिये पात्रता— भैया ! अपने धर्मस्वरूपका समाधान स्वयं मिले, इतने बडे कामके लिए स्वच्छ ईमानदारीका सत्यका ऐसा आग्रह करना होगा कि कुछ भी विकल्प चित्तमें न रहे। यह तक भी विकल्प न रहे कि मैं अमुक हू, अमुक नामका हूं, आरामसे अपने आपमें झुककर यों आग्रह करके बैठ जाय कि मुझे प्रकाश चाहिए और वह भी अपने आपमें से चाहिए और हमें समझना है कि मैं कौन हू, किस स्वरूपका हू और मेरा कर्तव्य क्या, मेरा धर्म क्या, मेरी चाल क्या ? इस तरहका अपने आपसे उत्तर लेनेका हठ मानने में ठहर जावो तो आपको उत्तर मिलेगा। लेकिन उसमे यदि कोई पक्ष रागद्वेष कल्पनाएँ विकल्प बनायेगा तो उत्तर न मिलेगा। हम आपका कर्तव्य है कि क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चार कषायोंको दूर करें, क्षमा, नम्रता, सरलता और उदारता, इन चार गुणोंको प्रकट करें, इन चार गुणोंमें वृद्धि करे तो हम आपको बहुत शान्ति प्राप्त होगी। सबका धर्म ही रक्षक है, दुनिया में अन्य कोई रक्षक नहीं है, ऐसा अपना निर्णय बनायें और धर्मकी ओर सच्चे दिलसे लगें तो इससे शान्ति प्राप्त होगी।

धर्मप्रयोगपद्धतिका दर्शन और उद्देश्य—धर्मके प्रकरणमें सर्वप्रथम आवश्यकता होती है—चारों प्रकारकी कषायें न हों। इसके बिना आचरणका प्रारम्भ ही नहीं माना गया है जो मोक्षमार्गमें साधक हो। १० प्रकारके धर्मोंमें ४ प्रकारके अग तो बता दिये गए हैं क्रोध न करना, घमड न करना, मायाचार न करना और लोभ न करना। अब इसके बाद जो ६ प्रकारके अंग शेष रहे हैं उसकी प्रक्रिया देखिये कितनी प्रयोगात्मक है ?

रख सकते थे। रखें चाहें १० ही नाम, पर आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य, क्षमा, संयम, मार्दव याने जिस चाहे क्रमसे बोल सकते थे, पर महापुरुष जो कुछ भी बोलते हैं उनकी बुद्धि इतनी स्पष्ट है, कि वे बिना यत्न किए, बिना जोर लगाये ऐसा बोलेंगे कि जिस क्रममें अनेक अर्थ भरे हुए होते हैं। एक उदाहरणके लिए सूत्रजीका एक स्थल देखो—स्थावरोंके ५ भेद किए हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति। इस क्रमको त्यागकर अगर और ढंगका क्रम रखें तो कई शिक्षाओंका लोप हो जायेगा। सबसे पहिले तो पृथ्वी नाम रखा वह सबका आधार है। उस पर ही सब बातें चलती हैं और उसके बाद जल है जो इस पृथ्वीका निकट सम्बन्धी है और इस पृथ्वी और जलके मूल उपादानसे ये सब बातें प्रकट हो गई हैं जो जीवोंके जीवनका आधार हैं। इसमें खास जाननेकी बात यह है कि अग्नि बहुत भयकर चीज है, उपकारकी भी चीज है और लग जाय तो सब स्वाहा हो जाय। उस अग्निको हम किस नम्बर पर बोलें, इसका पहिले निर्णय करें। अगर पृथ्वीके बाद अग्नि बोलते हैं, पृथ्वीपर अग्नि धरते हैं तो पृथ्वीके बाद अग्नि बोलते हैं, पृथ्वीपर अग्नि धरते हैं तो पृथ्वी तो जल जायेगी। बोलनेसे पृथ्वी जलती नहीं है, पर क्रममें एक कल्पना है। मान लो वायुके बाद रख दें तो यहां वनस्पति साथमें रखी हुई है वनस्पति जल जायेगी। कहां धरें? यदि जल और वायुके बीचमें आग धर दें तो इससे पृथ्वी भी बच गई और वनस्पति भी बच गई। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चारका सही मेल हो जानेसे वनस्पतिका उत्पाद होता है। जितनी गर्मी चाहिए गर्मी न मिले, हवा चाहिए हवा न मिले, पानी चाहिए पानी न मिले तो वृक्ष कहांसे आयें, फल कहांसे आयें? झट बोल तो दिया पृथ्वी, जल, अग्नि वायु, वनस्पति, पर उस क्रममें लौकिक मर्म भी पड़ा हुआ है।

धर्माङ्गोंके क्रमविन्यासके समर्थनमें रत्नत्रयके क्रमविन्यासका दृष्टान्त—

रत्नत्रय तीन होते हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। यदि और तरहसे क्रम बोल दें तो उसमें सामञ्जस्य नहीं बैठता। इस क्रमका तो यह अर्थ है कि सर्व प्रथम जीवको श्रद्धान चाहिए। जिसका श्रद्धान बिगड़ा है वह आगे चल ही नहीं सकता। श्रद्धान यदि यथार्थ है तो कुछ अपराध भी हो जाय वह भी क्षम्य हो सकता है, पर श्रद्धान् बिगड़ा हो तो सब कुछ बिगड़ा है। श्रद्धानसे भ्रष्टको भ्रष्ट कहा है। आगममें यह भी बताया है कि चारित्रसे भ्रष्ट भ्रष्ट नहीं है, यद्यपि चारित्रसे भ्रष्ट होना भी भ्रष्टता है लेकिन मोक्षमार्गके प्रकरणमें श्रद्धानसे भ्रष्ट होने वाले को भ्रष्ट कहा है अर्थात् वह अतिभ्रष्ट है। श्रद्धानभ्रष्ट आत्मा धर्मका अधिकारी ही नहीं है। श्रद्धान् है और चारित्रमें शिथिलता आ जाय तो

सकता है। सच्चाईके बिना संयम नहीं पल सकता। जैसे कोई एक आक्सी कांच होता है जिसे धूपमें रख दो और इस ढंगसे सीधा करके रखो कि किरणोंका संयम हो जाय, किरणें केन्द्रित हो जायें तो उसके नीचे रहने वाली वस्तु जलती रहती है। यदि वह काच किसी लेपसे मलिन है, मिट्टी लगी है, कूड़ा, राख लगी है तो उस काचसे तो चीज जलनेका काम नहीं बन सकता। इससे पहिले काचको साफ किया जाय। जब काचमें समीचीनता प्रकट हो गयी तब किरणोंका संयम बन सकता है, ऐसे ही आत्मामें क्रोध, मान, माया, लोभ ये मैल कूड़ा कचरा लगे हुए हों तब तक आत्मामें वह प्रताप नहीं आ सकता कि यह कर्मोंको भस्म कर सके और ब्रह्मचर्यकी साधना बना सके। इस कारण सबसे पहिले इन कषायोंके कूड़ेको हटाया जाता है। कषायें हटनेसे जब आत्मामें सच्चाई प्रकट हुई तब इसमें यह सामर्थ्य आ गयी कि अपने ज्ञान किरणोंको केन्द्रित करके एक आत्मस्वरूपमें संयत कर सकता है। यह हुआ संयम।

तप धर्म—संयम धर्मके बाद आत्मामें ऐसा प्रताप फैलता है कि इसमें तप उत्पन्न होता है, जैसे उस कागजमें सूर्यकी किरणें केन्द्रित हो जानेसे वहां एक ऐसा प्रताप उत्पन्न होता है कि ताप उत्पन्न होता है। तो इस तरह यह अध्यात्मसंयम बनने से आत्मामें एक प्रतपन होता है जिसे कहो चैतन्यप्रताप। शारीरिक तपकी बात नहीं कह रहे किन्तु यह आत्मा अपने आत्मामें ही तप जाय ऐसे तपकी बात कह रहे हैं। यों अब इस प्रयोगविधिमें उत्तम तप धर्मका अंग बना।

त्यागधर्म—जब चैतन्य प्रताप, ऐसा तप उत्पन्न हुआ तो आत्मामें जो भी त्यागने योग्य बात है, बेकारकी बात है वह सब दूर होने लगती है अर्थात् विकारोंका त्याग होने लगता है। जैसे कि उस कागजमें सूर्य किरणोंके केन्द्रित होनेसे जो एक प्रताप, ताप उत्पन्न होता है उसके कारण नीचे रहने वाले रुई आदिकमें एक त्याग होने लगता है। भारकी चीज जलने लगती है, हट जाती है। इसी प्रकार ज्ञानसूर्यकी किरणोंके आत्मामें संयत होने पर हुए प्रतपनके प्रताप विकार जलने लगते हैं।

जब त्याग उत्पन्न होता है तो त्यागका यह फल है कि वहां फिर कुछ न रहे। जब जल गई वह रुई तब सब निर्भार हो गया, कुछ नहीं रहा। कुछ न रहने का ही तो नाम आकिञ्चन्य है। यह आत्मा किसी पद्धतिसे मलिनतावोंसे हटकर अपने आत्मामें मग्न होता है उसकी पद्धति इन दश धर्मोंमें बतायी गई है।

धर्माङ्गोंके क्रमविन्यासका समर्थन—महापुरुष जिस बातको बताते हैं, उसमें जो क्रम रखते हैं उस क्रममें भी मर्म होता है। यों तो अट्टसट्ट भी क्रम

परिणमाने वाले हैं और न रहे वह वस्तु, तो क्या उसका क्योंजी आपके ख्यालमें ही परिणमन बन्द हो जायगा ? वह वस्तु तो बदलती रहेगी पुरानी होगी, नई शकल रखेगी। तो ये सब पदार्थ स्वयं सत् हैं, स्वयं बनते हैं, स्वयं बिगड़ते हैं, स्वयं ही रहा करते हैं। इसीप्रकार मैं भी हूं, यह मैं भी स्वतन्त्र होकर परिणमता रहता हूं।

मेरा परिचय—मैं जैसा परिणाम करता हूं वैसा बनता रहता हूं, बनता हूं बिगड़ता हू, फिर भी बना रहता हू। यह है हमारा परिचय। कोई पूछे भाई इनका परिचय बतावो ये कौन हैं ? अच्छा सुनिये, इनका यह है परिचय, ये हैं अत एव प्रति समय बनते हैं, बिगड़ते हैं और बने रहते हैं। और ये रहते कहाँ हैं ? ये रहते हैं अपने सत्त्वमें, अपने स्वरूपमें अपने प्रदेशोंमें रहा करते हैं। बड़ा अच्छा परिचय बता रहे हैं। और ये करते क्या हैं साहब ? ये अपने भावोंका परिणमन करते रहते हैं। कोई आकर पूछे, ये जो आपके साथ आयें हैं ये कौन हैं ? तो बताइये बेधड़क, ये जीव असमानजातीय द्रव्यपर्याय, ये मायारूप हैं यह मनुष्य पर्याय वाला जीव है, तो इसका परिचय यह है कि ये बनते हैं बिगड़ते हैं और बने रहते है। रहते कहाँ हैं ? अपने स्वरूपमें। करते क्या हैं ? अपने भावोंका परिणमन। तो सब पदार्थोंका ऐसा ही परिचय है। यह स्वरूप है पदार्थका। इससे स्वतंत्रता विदित होती है।

परमब्रह्मचर्यकी सिद्धिका यत्न—जब तक सभी पदार्थोंको हम आजाद रूपमें न निरख सकें और अपने आपको भी हम आजादके स्वरूपमें न निरख सकें तब तक हम ब्रह्मचर्यकी प्राप्ति कैसे कर सकते हैं ? ब्रह्मचर्य मायने आत्मामें मग्न होना। तो यह स्वतंत्रता हमें इस आकिञ्चन्यसे विदित होती है। सभी पदार्थ आकिञ्चन हैं अर्थात् उनमें उनका ही सत्त्व है। उनमें किसी परस्वरूपका कुछ नहीं है। मैं आकिञ्चन् हूं अर्थात् मुझमें मैं ही हूं। मुझमें मेरेसे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। यों आकिञ्चन्य धर्म तक आये। इस प्रकार कषायोंको दूर करके आत्मामें सच्चाई प्रकट की गयी और जब यह आत्मा सच बन गया तो इसके ज्ञानरूपी सूर्यकी किरणें आत्मामें केन्द्रितकी जा सकीं, उससे चैतन्यमें तपन पैदा हुआ, उस तपनके कारण यह बोझ यह विकार यह सूक्ष्म विकार यह भी दूर होने लगा तब इस आत्मामें आकिञ्चन्य प्रकट हुआ। आकिञ्चन्यकी सिद्धि होनेके बाद ब्रह्मचर्यकी प्राप्ति होती है। ब्रह्मचर्यमें समस्त तरंगे विश्रान्त हैं, किसी भी प्रकारका विकल्प नहीं है।

वह श्रद्धानपर हमला तो नहीं कर रहा है। सारी गाड़ी तो श्रद्धान पर चलती है। श्रद्धानसे भ्रष्ट हो जाय तो फिर इसे बहुत काल तक कुयोनियोंमे भ्रमण करना पड़ता है। तो पहिले श्रद्धान व हित। श्रद्धान होने पर इसके ज्ञानकी पूर्णता होती है। ज्ञान कितना ही हो, श्रद्धान नहीं है तो वह न सम्यक् है, न परिपूर्ण होगा। उसके बाद सम्यक्चारित्रकी पूर्णता होती है। तो यों ही समझिये कि धर्मके जो ये १० अंग कहे हैं इनमे क्रममें भी विशेषता है। इस क्रममें अब तक सत्य संयम, तप, त्याग धर्म तक आये थे। जब आत्मामे जो विकारभाव हैं, सूक्ष्म भी विकार हैं उनका भी त्याग होने लगता है तब यह आत्मा अकिञ्चन बनता है।

धर्मलाभका अन्त उद्यम—इस आत्माका बाह्यमें कहीं कुछ नहीं है। यह अपने स्वरूपमात्र है। मैं अकिञ्चन हू, कुछ भी मेरा नहीं है, मेरा मात्र मैं हू। श्रद्धानमें तो यह बात पहिलेसे ही चलती है, पर प्रयोगके रूपमें यह आकिञ्चन्य त्यागके बाद प्रकट हुआ है। जो पुरुष अपने आपको परवस्तुवोंसे न्यारा केवल ज्ञानमात्र निरखता है उसको धर्म मिलना, शान्ति मिलना यह बहुत आसान है। धर्मकी बात जब मनमें लाये तो इन सब बातोंको भुला दे—मैं अमुक नामका हू, अमुक जातिका हू, अमुक कुलका हू, अमुक मजहबका हू, अमुक वातावरणका हू, अमुक गांवका हू, सब कुछ भुला दे, केवल अपने साथ एक जीवका नाता रखे—मैं जीव हू, ज्ञानमय पदार्थ हू, मुझे धर्म चाहिए क्योंकि वर्तमान परिस्थिति हमारी अधर्मकी बन रही है और उस अधर्मके संतापसे तपकर हम व्याकुल हो रहे हैं। इस संसारसंतापसे हम जिसके प्रसादसे दूर हो सकते हैं, वह धर्म क्या है ? उसकी चर्चा चल रही है।

प्रथम आवश्यक स्वरूपश्रद्धान—सर्वप्रथम तो यह जीव अपना सही श्रद्धान बनाये, पदार्थका सही-सही ज्ञान करे। पदार्थ सब स्वतंत्र हैं और उन पदार्थोंमें यह स्वरूप पड़ा हुआ है कि वह हर समय कुछ न कुछ अपनी अवस्था बनाता रहे। यह पदार्थका स्वभाव ही है ऐसा। अपनी दशा बनाये बिना, अपने मे परिवर्तन क्रिया किये बिना पदार्थकी सत्ता ही नहीं रह सकती। इससे हम बहुतसी चिन्तावोंसे और बहुतसे भ्रमोंसे मुक्त हो जाते हैं। कोई लोग तो इसही में परेशान रहते हैं कि आखिर इस चीज को किसीने बनाया कैसे ? चीज बनानेकी बात अभी दूर जाने दो, पहिले यह ही बतावो कि इसकी सत्ता कबसे है ? क्या कभी ऐसी भी कोई वस्तु आज तक बनी है कि जिसका सत्त्व तो किसी रूपमें पहिले से हो ही नहीं और बन जाय ? अगर ऐसा बन सकता है तो आप यहीं मिट्टीका सकोरा तयार करके दिखा दें या कुछ भी चीज तैयार करके बता दें जो न हो

हमें न तो धर्म कहीं बाहरसे लाना है, न ज्ञान कहीं बाहरसे लाना है, न आनन्द कहीं बाहरसे लाना है. सिर्फ बाहर मेरा धर्म है, बाहर मेरा ज्ञान है; बाहर मेरा आनन्द है, ऐसा भ्रम बनाकर जो दृष्टि बाहर ही बाहर भ्रमा करती है उससे बड़ा कष्ट होता है। जरा अपनी ओरका झुकाव तो करें, हमारा ज्ञान, हमारा धर्म, हमारा आनन्द स्वयं अपने आपमें मिल जायगा और ये जो ममता और भ्रांतियोंकी विपदाए बनी हुई हैं ये विपदायें समाप्त हो जायेंगी। ग्रहण करने योग्य सारभूत बात यही है कि अपनेको ज्ञानस्वरूप पदार्थ मानें और अपने स्वरूपको धर्म समझें और उस स्वभाव लीन होनेका यत्न करें, यही धर्मपालन है।

न सम्यग्गदितुं शक्यं यत्स्वरूपं कुदृष्टिभिः।
हिंसाक्षपोषकैः शास्त्रैरतस्तैस्तन्निगद्यते ॥२०१॥

धर्मशून्यवचनोंसे धर्मकी अवक्तव्यता—हम आप सब जीवोंके लिए एक मात्र परमशरण धर्म क्या है, इस बातको कहनेके लिए वह पुरुष समर्थ नहीं हो सकता जो हिंसा और इन्द्रियके विषयोंके पोषने वाले कुदृष्टिजन हैं अथवा उन शास्त्रोंसे भी धर्मका स्वरूप यथार्थ समझमें नहीं आसकता जो हिंसा और इन्द्रियोंके विषयका ही पोषण करने वाले हैं अथवा उन गुरुवों सन्न्यासियों साधुवोंसे भी धर्मकी बात समझनेमें नहीं आ सकता जो अपने इन्द्रियके विषयोंके पोषणमें ही लगे रहते हैं। धर्मकी बात उन्हीं पुरुषोंके द्वारा विदित हो सकती है जिनका अपना जीवन भी उस धर्ममें सना हुआ बना रहता है।

मर्मशून्य वाणीमें मर्मकी अजानकारी—यों तो धर्मका स्वरूप जानकर पढकर शास्त्रसे अध्ययन कर कहनेकी बात सभी कर सकते हैं, किन्तु अपने आपमें उस धर्मके भाव बनाकर फिर धर्मके स्वरूपका वर्णन किया जाय तो उस जीवनमे यथार्थ स्वरूप सत्य प्रकट होता है। योंतो लोग तोतेको भी पढ़ा लेते हैं, कई कई दोहा अथवा कई वाक्य तोते भी बोला करते हैं, पर क्या उन तोतोंके चित्तमें उसका कुछ अर्थ भी समाया है। जो सिखा दो सो तोता बोलने लगता है। ऐसे ही केवल अक्षर सीख लेने पर, धर्मकी कुछ बातें याद कर लेनेपर धर्मकी बात को कहने लगें तो उनका कथन तोतेकी तरह है। और जैसे तोते किसी बातका उत्तर नहीं दे सकते हैं ऐसे ही केवल रटत विद्यासे जो कुछ विद्वान् बन जाता है वह विभिन्न श्रोतावोंको मर्मनिर्णायक उत्तर अपनी भाषामें नहीं दे सकता है।

धर्माचरणसे ही धर्मप्रभावना—भैया ! धर्मकी बातका प्रचार करने के लिए पहिले स्वयको धर्ममूर्ति बनना चाहिए। किसी समाजमें मान लो

धर्मनाममें धर्मस्वरूपका प्रकाश—निरपेक्ष शुद्ध दशारूप धर्म जो पुरुष निभाते हैं, पालते हैं वे ही इस जगमें पूज्य हैं और आनन्दमय हैं। इस पवित्र धर्मका व्याख्यान उन्होंने किया है जिन्होंने इसका प्रयोग करके खुद अपने आपमें उतारा है, उनका नाम है जिन। जिनका अर्थ है जो कर्मोंको जीते। देखिये धर्मका ठीक स्वरूप यदि समझमें आ जाय तो स्वरूप वही चित्तमें रहेगा, नाम कुछ ले लिया जाय। जैसे एक नाम है जैनधर्म। तो जैन शब्दका अर्थ क्या रहा? जो कर्मोंको जीते सो जिन अर्थात् महंत पुरुष, परमात्मा। उन्होंने शासन बताया है, मार्ग बताया है उस मार्गका नाम है जैनधर्म, वैष्णव धर्म। विष्णुका जो धर्म है वह वैष्णव धर्म है। विष्णुका अर्थ है व्यापक। जो तीनों लोकमें फैला हो उसका नाम विष्णु है। आप कुछ अनुभवसे तो सोचें, ऐसा कौनसा तत्त्व है जो समस्त लोकमें फैला हुआ हो? वह तत्त्व है ज्ञान। अब आप आंखोंसे इस ओर देखें तो आपका ज्ञान इतनेमें फैल गया, ऐसा लगता है कि नहीं? तो फैलनेकी प्रकृति ज्ञानमें है और यह ऐसा निर्बाध फैलता है कि इसको कर्मरूपी आवरणकी रुकावट नहीं हो तो यह ज्ञान समस्त लोक में फैल जाता है, और इतना ही नहीं, अलोकमें भी फैल जाता है। अलोक में किसी द्रव्यकी गति नहीं है। कोई पदार्थ आकाशके सिवाय वहाँ नहीं है लेकिन ज्ञानकी ऐसी गति है कि लोकमें भी फैले और अलोकमें भी फैले। अर्थात् ज्ञानमें लोक भी ज्ञेय है और अलोक भी ज्ञेय है। तो विष्णु तो ज्ञान है, उस ज्ञानकी जो वृत्ति है उसका नाम है वैष्णव धर्म। ज्ञान सम्बधित विकासका नाम है वैष्णव धर्म। सनातनधर्म—सनातनका अर्थ है सीमा रहित अर्थात अनादिसे चला आया आया हो, अनन्त काल तक रहे। सनातन क्या चीज क्या है? यह आत्म धर्म। समस्त नाम आत्मधर्मके हैं। आर्य मायने श्रेष्ठ। वह श्रेष्ठ धर्म क्या? आत्मधर्म। तो जिन्होंने धर्मका स्वरूप जाना है वे लोकमें प्रसिद्ध धर्म के विशेषण, धर्मके नामको भी उस स्वरूपमें लगा सकते हैं।

अपना कर्तव्य और सिद्धि—भैया! अपना कर्तव्य तो यह है कि अपने में एक आत्माका नाता ही लगायें केवल। और लोकमें जो अनेक बातें पर्यायोंकी फैल गयी हैं उन पर्यायोंका पक्ष न रखें। मुझे शान्त होना है, सुखी होना है और मेरे लिए धर्म चाहिए। वह धर्म इस दशलक्षण अंगोंकी पद्धतिसे प्राप्त होता है। इस धर्मका अंशमात्र भी सेवन करे कोई तो वह योगीश्वर मोक्षसुखका अनुभव करता है, अंशके सेवनसे नहीं, किन्तु जो अंशमात्र भी सेवन करेगा उसके समग्र धर्म आ ही जायगा। यह आत्मा साक्षात् धर्मभूर्ति है। आत्माका जो स्वभाव है उसकी ही तो मूर्ति है।

का स्वरूप सम्यक् प्रकारसे कहा जा सकता है ? उनमेंसे जो पुस्तकें मात्र विषयसे रागसे, दुनियावी प्यारोंसे, इन ही वर्णनोंसे भरी हुई हैं, क्या उन पुस्तकोंसे धर्मका स्वरूप प्रकट हो सकता है ? धर्मका स्वरूप तो धर्मके आचरणसे प्रकट होता है। मात्र कहना झूठ है, करना सच है, यह बात लोकमें बहुत प्रसिद्ध है ? धर्म क्या है ? इस बातको इस ग्रन्थमें आचार्य स्वयं बता रहे हैं और उससे पहिले धर्मकी प्रशंसामें धर्मकी कुछ विशेषता कह रहे हैं।

चिन्तामणिर्निधिर्दिव्यः स्वर्धेनुः कल्पपादपाः।
धर्मस्यैते श्रिया सार्द्धं मन्ये भृत्याश्चिरन्तनाः ॥२०२॥

धर्मके लोकचमत्कार—लक्ष्मी सहित चिन्तामणि रत्न, दिव्य नवनिधि, कामधेनु, कल्पवृक्ष, बड़े-बड़े विभूति ऐश्वर्य ये सब धर्मके चिरकाल से सेवक रहे हैं। आज जो मनुष्य शरीरसे पुष्ट हैं, धन समृद्धिसे सम्पन्न हैं, जनतामें जिसकीबात मानी जाती है, जिसके संकेतपर जनता अपने आपको समर्पण कर सकती है, ऐसी-ऐसी जो महाविभूतियां मिली हैं, जो बड़ी विभूतियाँ प्राप्त हुई हैं क्या आप यह कह सकते हैं कि इन विभूतियों को ये हाथ कमा सकते हैं ? क्या आप कह सकते हैं कि जो विद्यायें पढी हैं क्या उन विद्यावोंके बलपर विभूति कमाई जा सकती है। यद्यपि ये भी सहायक हैं लेकिन वास्तविकता यह है कि जिन जीवोंने पूर्वभवमें धर्म किया था दया की थी, पापोंसे बचे थे, अपने आत्माकी दृष्टिकी थी, प्रभु की भक्तिकी थी उससे जो पुण्य कर्मका बन्ध हुआ उसके उदयका यह फल है कि आज सब कुछ अनुकूल समृद्धियाँ मिली हैं।

करनीमें अपनी जिम्मेदारी—जब उदय अनुकूल आता है तो यह धन विभूति न जाने किस-किस रास्तेसे आ जाती है, न यह धनी जानता है, न और कोई जानता है पर जब पापका उदय आता है तो चाहे कितनी सम्पन्नता हो पर यह वैभव न जाने किन-किन रास्तोंसे निकल जाता है, इसे भी कोई जान नहीं पाता। हाँ इतना अवश्य नियम है कि भक्ति करने का भला फल होता है और बुरी करनीका बुरा फल होता है। भले ही आज कुछ उदय अनुकूल है, पुण्य है और करनी बुरी करे तो भले ही वह बुरी करनी छिप जाय, प्रकट न हो, यश भी बनाये रखे, लेकिन बुरी करनी करनेसे जो बंध हुआ वह टलेगा नहीं। इसका कारण यह है कि इस जगत में सर्वत्र ऐसे सूक्ष्म कर्म अणु भरे हुए हैं कि जबयह जीव विषयकषायोंके परिणाम करता है, खोटे भाव करता है तो तत्काल ही वे सब कर्मअणु इस जीवके साथ कर्मरूपमें बनकर ठहर जाते हैं। कोई जीव कहीं भी गुप्त भी पाप करना चाहे वह यह जाने कि हमें कोई देख नहीं रहा इस पापको

१०० पुरुष हैं और १००के १०० ही पुरुष इस प्रयत्नमें लग जायें कि लोगोंमें धर्मका प्रचार हो, लोग इस धर्मको मानने लगें, प्रशंसा करने लगें तो क्या आप यह कह सकते कि यहाँ कुछ धर्मका प्रचार हुआ ? जब कि १००के १०० ही धर्मसे शून्य हैं, केवल धर्मका प्रचार कर रहे हैं। यदि उनमेंसे एक भी कोई धर्मात्मा बन जाय तो यह कहा जा सकता है कि १०० आदमियों के समाजमें एक आदमी तो धर्मात्मा निकला। धर्म एक प्रयोग और अनुभवकी चीज है। दयासे भरा हुआ हृदय रहे, असत्यतासे अपनेको दूर रखे, चोरी, कुशील, परिग्रह, तृष्णा इनसे अपनेको दूर बनाये रहे, सब जीवोंका भला सोचे, सब जीवोंमें वह स्वरूप दिखे जिस स्वरूपसे हम और ये सब एकसे मान हों—ऐसी आत्माके स्वरूपमर्मकी बात चित्तमें बसे तो वहाँ धर्म प्रकट होता है।

यथार्थ प्रयोगके बिना विडम्बना—सही प्रयोगके बिना तो ऐसी विडम्बनाकी स्थिति बन जायगी जैसे एक कथानक दिया गया है कि बादशाहने पूछा अपने मंत्रीसे कि मंत्री यह तो बतावो कि हमारे नगरमें ये प्रजाके लोग सब हमारी आज्ञा मानते हैं या नहीं ? मंत्री बोला, महाराज यदि मुझसे वचनमात्रसे उत्तर दिलाते हो तो हम आपसे यही कहेंगे कि सब मानते हैं आपकी आज्ञा और सही बात समझना चाहो तो आपको हम कल समझा देंगे। अच्छा, तो मंत्रीने नगरमें ढिढोरा बजवाया कि कल सरकार को बहुत दूधकी जरूरत है। सब लोग आज रात्रिको अपने-अपने घरसे एक-एक सेर दूध लायें और महलमें बड़ा हौद बनाया गया है उसमें डाल दें। सब लोग सोचते हैं अपने घरमें बैठे-बैठे कि सब लोग तो दूध ले ही जायेंगे, हम अपने एक सेर पानी ले जायें, रात्रिका समय है, कौन देखता है तो हम दूध देनेसे तो बच जायेंगे। हजार घर होंगे नगरके तो हजारों आदमियोंने यही सोच लिया, सब लोग एक-एक सेर लोटेमें पानी ले गये और उसी हौदमें डाल दिया। सवेरे मंत्रीने बादशाह को दिखाया और कहा देखो महाराज आपके नगरमें सब कैसे आज्ञाकारी हैं ? दूधका हुक्म दिया था ना, पर इसमें एक बूँद भी दूधकी है क्या ? हम धर्मकी आज्ञा मानते हैं, हम धर्मका बहुत बड़ा प्रचार करते हैं, पर खुदमें धर्म कितना उतरा है यह भी तो निरख लो।

धर्मलाभकी पद्धति—धर्म तो धर्मात्मा बननेसे होता है न, कि शब्दोंसे होता है। उस बोल व्यवहारका धर्मका न स्वयं पर असर होता, न कहीं अन्यत्र असर होता। वह तो एक विधि बना ली गई है। तो जो मिथ्यादृष्टि जन हैं, जिन्हें अपने इन्द्रियका विषय ही प्रिय लग रहा है, जो खुदगर्ज हैं, अपने विषयभोगोंमें ही आसक्त रहा करते हैं उन पुरुषोंसे क्या धर्म

जानते जावो, बस यही धर्मपालन है।

अभेदवृत्तिमें आनन्दका वास—धर्ममें भेद नहीं है, जीवमें भेद नहीं है, साधरणतया मनुष्यमें भी भेद नहीं है पर रागद्वेषसे पीड़ित ये मनुष्य कितना भेद डाल देते हैं? वे भाग्यशाली मनुष्य हैं जो अपने आपको इस स्वरूपमें देखते हैं जिस स्वरूपसे जगतके सब जीव अपने समान जँचते हैं। सबसे घुलमिल करके रहनेमें आनन्द है। अपनी-अपनी अलग-अलग खिचड़ी पकानेमें आनन्द नहीं है। ऐसा जैसे लोकमें कहते हैं ऐसे ही धर्म का स्वरूप भी समझिये। जीवके स्वरूपमें हमारा स्वरूप घुलमिल कर रह जाय ऐसे उपयोगकी वृत्ति बने, आनन्द तो उस स्थितिमें है। अभिमानमें कहां आनन्द रखा है? देखो मैं कितना भरापूरा हूं, कितना वैभवशाली हूं इस प्रकारकी भेदरूप कल्पना करनेमें वह सत्य आनन्द नहीं आता, वह भी एक क्लेश ही है। कोई क्लेश मौजका है, कोई क्लेश विषादका है पर क्लेश सबमें है। जो संसारके सुख माने जाते हैं उन सुखोंमें भी क्लेश ही छिपा हुआ है। आनन्द तो वह है जो सुगम है, स्वाधीन है।

वैषयिक सुखकी असारता—जो सुख तकदीरके आधीन हैं, इतने पर भी सुखका विनाश देखा जाता है। अभी है, कल न होगा इतने पर भी जिस सुखके भोगनेके बीच-बीच भी अनेक दुःख आते रहते हैं वह क्या सुख है जैसे आप सब समझ ही रहे होंगे, घरके स्त्री पुत्र भले हैं, उनसे बड़ा सुख मिल रहा है तो भी बीच बीचमें अनेक दुःखके प्रसग भी आते रहते हैं। सुख-सुखका ही प्रसंग किसीके नहीं रहा। ये ससारके सुख बीच-बीचमें दुःखसे भी भरे हुए हैं। कितने ऐब हैं इस सुखमें, जिसके पीछे मोही जन बेतहाशा भागे जा रहे। कुछ शान्तहृदयसे विचार तो करिये ये सुख विनाशीक है, दुःखसे भरे हुए हैं और इतनी ही बात नहीं किन्तु ये पापके कारण हैं। इस सुखके भोगनेके समय कहां अपने प्रभुकी याद रहती है, कहां अपने आत्माके स्वरूपकी याद रहती है। अपने प्रभुके विमुख होकर, अपनी आत्मदृष्टिसे विमुख होकर जो ये मायामय सुख भोगे जा रहे हैं इनके भोगनेसे विकट पापका बंध होता है। ये पापके कारण हैं और इनके फल में भविष्य में नाना पद्धतियोंसे क्लेश भोगने पडेंगे।

समागममे निर्लेप रहनेका कर्तव्य—सांसारिक सुखोंका आदर करना अपना कर्तव्य नहीं है, इनके तो जाननहार रहे। यह घर मिला है, इतनी सम्पदा मिली है, इतना यश ऐश्वर्य मिला है, ठीक है, देख लिया, यह हमारा कुछ नहीं है। यह तो सब मायारूप है। अब इस देहको भी त्याग कर कभी जाना पडेगा तो हम कहाँ अन्य पदार्थोंकी मालिकाईका विश्वास रखें? जो गृहस्थ जलमें रहने वाले कमलकी तरह समागमसे भिन्न रहा

करनेसे तो अब डर क्या है, लेकिन कोई यहाँके लोग नहीं देख रहे तो न सही, किन्तु यह पाप करने वाला तो स्वयं जान रहा है और फिर पाप करनेके समयमें कर्म अणु तो कर्मरूप बन रहे हैं, इसे कौन निवार सकता है इसी कारण यह जीव जैसी करनी करता है वैसा उसे फल भोगना पड़ता है।

ससारिक माया पुण्यपापका फल—एक कविने कहा है' यदा लक्ष्मीः समायाति नारिकेलिफलाम्बुवत्, यदा विनश्यते लक्ष्मीर्गजभुक्तकपित्थवत्।' जब विभूति आती होती है तब इस तरह आती है जैसे नारियलके फलमें जल। नारियलका फल होता है बड़ा। उसे लोग जानते ही हैं उसके फोड़ने पर उसमें पाव डेढ पाव पानी निकलता है। भला यह बतावो जिस फलका इतना कठोर छिलका है जो बडे जोरसे पत्थर पर मारनेसे फूट सकता है। उस फलके अन्दर पानी कहाँसे आया? आ गया। ऐसे ही यह वैभव लौकिक समृद्धि समागम कहाँसे आते हैं, कैसे आते हैं? जिसके पुण्यका उदय है जिसने करनी अच्छी की है उसके यों ही आ जाता है, और जब यह वैभव जानेको होता है तो किस तरहसे जाता है जैसे कोई हाथी कैथ खा ले तो दो एक दिनके बाद हाथीकी लीदसे कैथ निकलता है तब देखा होगा कि वह कैथ पूराका पूरा निकलता है, उसमें कहीं दरार छिद्र वगैरा नहीं होते हैं, और उसका वजन करीब डेढ़ दो तोला रह जाता है। तो यह बतावो कि उसका वह सारा रस कहासे किस तरहसे निकल गया? तो ऐसे ही समझिये यह वैभव पापके उदयमें न जाने कहासे कैसे निकल जाता है, कुछ पता नहीं पड़ता। यह निधि करनी अपनी भली है, पुण्यकी है तो रहती है, नहीं तो नहीं रहती। इसी कारण भैया! अपनेमें सामर्थ्य हो तो दूसरोंकी रक्षा करनेका भी यत्न रखना चाहिए।

धर्मका प्रताप व स्वरूप—यह सब सम्पन्नता धर्मकी किंकर है। ये जो चक्रवर्ती ६ खण्डकी विभूतिके राजा हुए हैं जिनके देवता तक सेवक रहे हैं, यह सब एक धर्मका ही तो प्रताप है। वह धर्म क्या है, इसका वर्णन कुछ किया है और कुछ किया जायगा, पर सक्षेपमें इतना समझ लो कि धर्म नाम है वस्तुके स्वभावका। लोग अपनी बोलचालमें भी कहते हैं, इस बिच्छुका धर्म काटना है और दयालुका स्वभाव दया करना है, दुष्टका स्वभाव दुष्टता करना है। बोलचालमें भी यों बोलते हैं जो वस्तुका स्वभाव है वह धर्म है। तो धर्म क्या है? जो अपना स्वभाव हो वह अपना धर्म है। अपनेसे मतलब एक ज्ञानमय पदार्थ, जीव। मेरा धर्म क्या है? जो आत्मामें स्वभाव पड़ा हुआ हो। आत्मामें स्वभाव है जाननेका। केवल

धर्मो नरोरगाधीशनाकनायकवाञ्छिताम् ।
अपि लोकत्रयीपूज्यां श्रियं दत्ते शरीरिणाम् ॥२०२॥

धर्मसे महनीय श्रीका लाभ—धर्म जीवोंको उत्कृष्ट लक्ष्मी प्रदान करता है। ऐसी लक्ष्मी जो चक्रवर्तीके द्वारा चाही गयी है अर्थात् जिसे चक्रवर्ती चाहें, धरणेन्द्र चाहें, देवेन्द्र चाहें ऐसी भी विभूतिको यह धर्म प्रदान करता है। चक्रवर्ती आदिक महापुरुष भी इस धर्मके प्रसादसे ही बना करते हैं। धर्मका स्वच्छ स्वरूप क्या है, जब यह बात अपने अन्तरङ्गमें अपने अनुभवसे विदित हो जाती है तब धर्मके प्रसादसे ऐसे लौकिक चमत्कार बहुत सुगम जचते हैं। धर्मका तो यह प्रताप है कि इसके प्रसाद से यह जीव सदाके लिए निराकुल हो जाय।

निराकुलताके प्रयोजनका विवेक—भैया ! एक कहावतमें कहते हैं कि तुमको आम गिननेसे काम है या खानेसे काम है ? इसी तरहसे यह बताओ कि आपको विभूतिसे काम है, या निराकुलतासे काम है ? यदि निराकुलतासे काम है तो विभूतिके गिननेका, विभूतिके विश्लेषणका क्या प्रयोजन है ? वह काम किया जाय जिसमें निराकुलता बने। निराकुल होनेका मार्ग ही एक है और वह है शुद्ध ज्ञान। बड़ा वैभव भी हो तो भी वैभवसे निराकुलता नहीं होती। बल्कि वैभवको विषय बनाकर जो यह ज्ञान बाहरकी ओर दृष्टि किए रहता है, बहिर्मुखता रहती है तो ज्ञानकी बहिर्मुख पद्धतिमें तो आकुलता ही होती है। आकुलता वैभवसे नहीं हुई किन्तु अपने ज्ञानकी जो बहिर्मुखी वृत्ति हुई, उसकी आकुलता हुई। अर्थात् अपने अपराधसे आकुलता है, वैभवके रहने या न रहनेसे आकुलताका निर्णय नहीं है। जितने तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र आदिक महापुरुष हुए हैं उनके तो बड़ी विभूति थी। हम आपके पास क्या है ? अथवा समझो इससे भी करोड़ गुना विभूति हम आपने अनेक बार पायी होगी। उसके आगे आजकी यह विभूति क्या है, किन्तु जीवको ऐसा मोह लगा रहता है कि जब जो पाया उसीको सर्वस्व समझते हैं।

ज्ञानसे शान्तिका लाभ—शान्ति ज्ञानसे मिलती है और अशान्ति अज्ञानसे चलती है यह बात सभी घटनाओंमें घटा लो। परिवारमें रहते हैं, कोई कुछ बोलता है, लड़के कैसे ही चलते हैं, परिवारका कोई कैसी ही प्रवृत्ति करता है, उनको देखकर यहां जिसने अपने को बुजुर्ग घरका मान रखा है वह दुःखी होता है तो उसके दुःखी होनेका साक्षात् कारण है अज्ञान। यह जो मनमें बनी हुई बात है कि मैं इसका अधिकारी हूं, मैं जो चाहूं इसे करना चाहिए, ऐसा जो विश्वास बनाया, बस यही अविद्या दुःख देती है। रही कर्तव्यकी बात तो कर्तव्यका मार्ग तो ठीक है। अब घरमें रहते

करते हैं वे पवित्र होते हैं। कमल जलमें उत्पन्न होता है, जलसे उत्पन्न होता है और जलके कारण कमल हरा भरा रहता है, इतने पर भी कमल जलसे कई हाथ दूर रहता है। जलमें नहीं बना रहता। यदि कमल जलमें रहे तो सड जायेगा। तो ऐसे ही ज्ञानी पुरुष यद्यपि गृहमें ही पैदा हुआ है और गृहमें रहकर भी अपने अनेक अन्य पापोंसे भी बचा रहता है। अतएव वह घरकी समृद्धियोंसे भरपूर भी रहता है लेकिन ज्ञानी पुरुष इस घर और समागमसे अलग ही रहा करता है।

मनचाही सृष्टिकी आत्मसाध्यता—भैया! क्लेश या आनन्दका निर्माण सब एक ज्ञानसाध्य बात है। यह ज्ञान, ये कल्पनाएँ ममताकी पद्धतिसे बढ़ें तो वहाँ पाप है, क्लेश है, अधर्म है और सही-सही दिशासे ज्ञान चले तो वहाँ धर्म है, शान्ति है। सब बात भीतरकी है। अपनेको ही सोचना है और वास्तविक स्वरूपके ढंगसे सोचना है, धर्मपालन हो जायगा। रागद्वेष मोह ये साक्षात् अधर्म हैं, और अपने आत्माके सहज स्वरूपका विश्वास और अपने आपके स्वरूपका सच्चा बोध तथा अपने आपके स्वरूपमें मग्न होनेका पुरुषार्थ—ये सब धर्म हैं। कभी तो १०-५ मिनट किसी जगह एकान्तमें बैठकर सारी बाह्य बातोंको भूलकर, अपने आपके व्यावहारिक रूपको भी भूलकर जिस रूपमें लोकव्यवहार करते हैं मैं अमुक नाम, अमुक जगह, अमुक पोजीशनका हूं, इन सब बातोंको भूलकर मैं तो एक जाननहार कुछ हूं ऐसा ज्ञानमात्र अपनेको मानकर इस सत्यका ही आग्रह करके बैठ जायें तो ऐसी एक अनुपम ज्योति अपने आपमें पावेंगे कि उस में जो एक अनुपम आन्द अपने आपको मिलेगा उस आनन्दकी स्मृति ही आपका उद्धार कर देगी।

धर्मप्रवर्तनका अनुरोध—यह जीव इस संसारमें अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही सुख दुःख भोगता है। सब बातें इस अकेले पर ही व्यतीत होती हैं तो उस दुःखसे छूटनेके लिए इस अकेले आत्मारामका मर्म क्यों न जानूँ? मैं अपनेको जानूँ और इस ही जानने के यत्नसे अपनेमें आन्दन प्राप्त करूँ। धर्म अपना अपने आपमें ही है। धर्मकी दूसरी व्याख्या है जो संसारके दुःखोंसे छुटाकर उत्तम सुखमें धरे उसे धर्म कहते हैं। धर्मका फल नियमसे सुख शान्ति है। धर्मसे कभी अशान्ति नहीं हुआ करती, पर उस धर्मको हम बाहर न ढूँढ़ें, अपने आप के अन्दर ही खोजें। जितने हम रागद्वेषसे दूर रहें उतना तो समझिये हम धर्ममें हैं और जितना रागद्वेषकी विपकणिका मिले समझिये उतना ही हम अधर्म करते हैं। हम सब जीवोंमें एक समान बुद्धि रखें और सबके सुखी रहनेकी भावना करें।

लगे रहें धर्मकार्यकी ओर तो धर्म साधनका जो प्रयोजन है वह सिद्ध न हो सकेगा। धर्मका तो इतना अतुल प्रताप है कि यह जीव निराकुल रह जायगा सदाके लिए। यह जड़ विभूति तो चीज क्या है। कुछ प्रयोग करके श्रद्धान करनेसे ही यह सब विषय स्पष्ट होगा। प्रयोग यही है कि हम इन इन्द्रियोंके विषयको रोककर किसी भी बातको सुननेकी चाह न करें, इन नेत्रोंको बन्द करें, कुछ न देखें और सभी इन्द्रियोंका संयमन करे, किसी भी इन्द्रियके विषयमें न लगे और गुप्त ही गुप्त अपने ज्ञानको अपनी ओर भीतर ढाल कर कुछ निरख करें कि हूं मैं क्या असलमें, मेरा स्वरूप क्या है?

निजकी बेसुधीका अंधेर—भला, जो जाननहार है वह अपने ही स्वरूप को न जान सके यह तो अंधेरकी बात है। अग्नि है वह दूसरोंको जलाती है और खुद गर्म न हो, बाहरकी चीजको तो जलाये और अग्निके निकट पदार्थ हो उसे पानीकी तरह शीतल रखे यह तो नहीं है वहाँ। जिसका जैसा स्वभाव है उसका वह सर्वाङ्ग स्वभाव है। तो हमारा स्वभाव जानने का है, हम इतनी चीजोंको जान रहे हैं और जानने वालेको हम न जान सकें यह तो अंधेरकी बात होगी। जानने वालेको जानना तो अति सुगम है। बाहरी पदार्थोंको जाननेमें तो अनेक विघ्न हैं। इन्द्रियां समर्थ हों, उजेला आदिक बाहरी साधन हों, हमारे आवरण कर्मोंका क्षयोपशम हो, शिथिलता हो, हमारी ज्ञानशक्ति भी काबिल हो, अनेक बातें हों तब हम जान सकते हैं बाह्य पदार्थोंको। पर अपने आपको जाननेके लिए बाह्य साधनों की तो जरूरत है ही नहीं, दिया न जलता हो, सूर्य प्रकाश न हो तो हम अपने आत्माको न जाने सकें ऐसी बात तो नहीं है। अंधेरा हो, उजेला हो, घरमें हो, बनमें हो, परतंत्र हो, सम्पन्न हो, रोगीहो, स्वस्थ हो, कुछ भी हालत हो, यदि ज्ञानशक्ति प्रबल है और सम्यक्त्वके ढगसे हैं तो हम हर स्थितिमें अपने आपके स्वरूपको जान सकते हैं। जिसने अपने इस आत्मस्वरूपको जाना उसने सब कुछ प्रयोजनीभूत जान लिया। अब उसे अन्य कुछ जाननेका प्रयोजन नहीं।

बाह्यमें शरणका अभाव—भैया! एक इस अपनेको न जान पाया, दुनियाकी अनेक चीजोंको जानते रहे तो फिर ठौर ठिकाना न मिलेगा, फुटबालकी तरह दर-दर ठोकरें ही खानी पडे गी। मानो बेचारा फुटबाल दूसरे बालककी शरण गहने गया तो वहाँसे ठोकर मिलेगी, अन्य बालक के पास शरण लेने गया तो वहाँसे ठोकर मिलेगी। यों ही फुटबालकी तरह यह जीव ठोकर खाता रहेगा। काल्पनिक विपत्तियोंसे परेशान होकर सोचा कि स्त्री हमारी शरण बनेगी, पर वहाँसे भी इसे ठोकर मिलेगी।

हैं तो बच्चोंको शिक्षा देते हैं। दो एक बार गल्ती हो जाय तो उनको शिक्षा देते रहते हैं और कोई यदि कुपूत ही उत्पन्न हो गया, कलहकारिणी ही घरमें स्त्री बनी हुई है, अन्य अन्य सब प्रतिकूल हो गए हैं तो इसका फिर यह कर्तव्य नहीं है कि यह उनके व्यामोहमें ही, पक्षमें ही अटका रहे। वहा यह विवेक करना चाहिये बाबा तुम लोगोंका भाग्य ही विपरीत है तो हम तुम्हारे सुधारमें क्या निमित्त बनेंगे? जैसे अनन्त जीव हैं दुनियामें वैसे ही एक हम आप जीव हैं, लेकिन यह तो मेरा ही है, मैं इसके पीछे जान दूँगा ऐसी मान्यता रखना यह घोर अधकार है। सुगमतया इतनी शिक्षा कोई मानता है तो कर्तव्य है कि समय समयपर योग्य बात बत ई जाय, लेकिन इस जीवके या अचेतन विभूतिके पीछे ममताकी कमर कसे रहना, यह तो कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है।

परवैभवसे शान्तिका अलाभ--बडे बडे चक्रवर्ती तीर्थंकर आदिक हुए, जिनके अटूट विभूति थी, नवऋद्धि सिद्धि जिनके बारेमे प्रसिद्ध है। उनका भी वैभवमें मन लगा नहीं, उन्हें छोड़कर ही उन्होंने शान्ति प्राप्त की। इससे भी यह निर्णय बना लो कि वैभव को रख-रखकर कोई शान्ति नहीं पा सकता। अच्छा यदि वैभवसे शान्ति मिलती है तो उसे लपेटे रहें, है किसीमें ऐसी शक्ति? मरते समय भी परिजन या वैभवको अपनी छातीसे लगाये रहें तो क्या उसका एक अश भी साथ जा सकता है? जो कुछ आज समागम है इसको देखकर इसमें बेहोश न होना चाहिए। विवेकशील रहना चाहिए। अपने को अपना स्मरण रहे ऐसी साधना रखनी चाहिए, नहीं तो जैसी लोकप्रसिद्धि है कि धोबीका कुत्ता घरका न घाटका। पता नहीं क्यों ऐसी प्रसिद्धि है, ऐसे ही हम कुछ थोड़ासा धर्मकी तबियत बनाकर धर्म के काममे लगें और साथ ही गृहस्थीका कुटुम्बका मोह सता रहा है तो उस ओर बढे, साथ ही धर्मकी कुछ धुन सी आये, जैसे एक पागलपन सा समझिये, उससे कुछ धर्मको ओर लगे तो यह संसारमें रुलने का ही काम रहा, पार होनेका नहीं।

दृढ़ रुचिसे धर्मपालनमे लाभ—चाहे भैया! चौबीस घटोंमें ५ घंटे धर्म मत करें, करें चाहे ५ मिनट, पर जो समय दिया है उस समयमें अपनी इतनी तैयारी अन्दरकी रहे कि हमें किसी भी अन्य वस्तुसे प्रयोजन नहीं है। किसी भी परपदार्थ का दूसरे वस्तुका हमें ख्याल नहीं करना है और देहसे भी न्यारा मैं हू, ऐसे केवल ज्ञानपुञ्जको ही हमें निहारना है, ऐसी दृढताके साथ यदि ५ मिनट भी दृष्टि बने तो वह काम करेगी और धर्ममें दिल तो है नहीं, चित्त तो ममतामें है और फि॰ भी लोक दिखावेकी वजहसे अथवा अपनी कुलपरम्पराकी वजहसे हम

मूलमें धर्म यह निकला कि मेरा ज्ञान मेरेको जाने, जिसमें रागद्वेष स्वय छूट जाते हैं वह स्थिति तो धर्म है और बाहरमे फँसे और उनमें रागद्वेष पक्षपातकी वृत्ति रखी, बस वह अधर्म है। मोटे रूपसे निष्कर्षमें यों कह लो हमे जो चीज अधिकसे अधिक प्यारी है वही मेरेको अधिकसे अधिक दुःखका कारण है। जिससे अधिक प्रेम होता है उसके गुजरने पर अधिक शोक होता है और जिससे कम प्रेम रहता है उसके गुजरने पर कम शोक रहता है। तो अर्थ यह निकला कि जो अधिक प्यारी वस्तु हो वह अधिक दुःखका कारण है। सो वस्तु दुःखका कारण नहीं, अधिक प्रेम हो तो अधिक दुःख, कम प्रेम हो तो कम दुःख, और प्रेम न हो, मोह न हो, द्वेष न हो, केवल जाननहार रहे उसको कोई दुःखका काम ही नहीं है। तो जब धर्मदृष्टि जगती है तब वहां सारा वैभव प्राप्त हो जाता है। हमें यदि निराकुलता चाहिए, तो हमें जमीन मकानकी गिनती न करना चाहिए। अगर निराकुलता जमीन मकानसे मिले तो जमीन मकानका संचय किया जाय, यदि हमें निराकुलता सभी चीजोंके त्यागसे स्वयं मिले तो वह स्थिति पसंद करे। सकल्प यह होना चाहिए कि मुझे तो निराकुलता चाहिए, समृद्धि न चाहिए।

मोहमें स्वरूपभ्रष्टता—बहुतसे लोग तो निराकुलताके उद्देश्यकी बातको भी तैयार नहीं हो सकते। वे यह मानना नहीं चाहते कि हमें तो धन न चाहिए, निराकुलता चाहिए। उनका तो बर्ताव है, यह भीतरी भाव है कि हमें तो धन चाहिए, हम पर चाहे कुछ गुजरे। हमें तो राज्य चाहिए, चाहे हमपर कुछ गुजरे। आकुलित होते हैं और आकुलताके साधनोंमें ही मोह बढाते हैं, यह स्थिति हो रही है। जैसे लाल मिर्च खाते जाते हैं, सी भी करते जाते हैं, आंसू भी गिरते जाते हैं और मांगते भी जाते हैं कि और लावो मिर्च। ऐसे ही ये जीव दुःखी भी होते जाते हैं, आकुलित भी होते जाते हैं और फिर भी उन्हीं साधनोंमें रमते हैं। जैसे लड़केको पालपोस रहे, वह मारता भी, मूँछ भी फाड़ता, ऊपर मल मूत्र भी करता और बड़ा होने पर कष्ट भी देता तो भी उसे मानते कि यह तो मेरा ही है। ऐसी दृढ़ ममता, कैसा अज्ञान चित्तमें बसा है ?

ज्ञानीके विवेकका सतुलन—ज्ञानी पुरुष चाहे घरमें रहे, चाहे वनमें रहे उसका तो संतुलित विचार रहता है, वह किसी थोथी भावुकतामें नहीं आता। जरासी देरमें इस ओर वह गया, फिर उस ओर वह गया, ऐसा वह विवेकी पुरुष नहीं करता है। वह अपने विवेकसे अपनी दृष्टिसे सब हल निकालता है। घरमें रहता हुआ भी ज्ञानी वैरागी

इस संसारमें किसीसे भी शरणकी आशा करे तो इसे ठोकर ही मिलेगी। मानो उस स्त्रीसे जीवन भर ठोकर न मिले तो जब इसका मरण होगा तो उसके वियोगकी ठोकर लगेगी। जिन्दगी भर ठोकर न मिला तो मरकर ठोकर मिला। पर जितने भी ये समागम हैं उन रूपकी ओरसे इस जीवको ठोकर लगती है। कोई अपना बहुत अनुकूल मित्र है, उससे अपनेको बहुत सुख उत्पन्न हुआ, पर इस जीवनमें ही कोई समय ऐसा भी आयेगा कि किसी न किसी रूपमें उससे भी ठोकर लगेगी। तो ठोकर बाहरी चीजोंसे न लगेगी, सब अपनी कल्पनाएँ हैं। अपनी कल्पनाओंसे कुछ सुख माना था और अपनी ही कल्पनाओंसे अब दुःख माना है।

सर्वत्र अपनी जिम्मेवारी—भैया! सब अपने आपपर अपनी जिम्मेदारी है। जो जैसा करता है वैसा भोगता है। और कोई यह भी धारणा रखते हैं कि हमको सुख दुःख देने वाला ईश्वर है, लेकिन हम पाप करें तो फल किसे मिलेगा? चाहे ईश्वरने ही दिया सही, फल तो बुरा मिला ना। तो मूल जिम्मेदारी किसकी रही? हमारे सुखी दुःखी होनेमें मौलिक जिम्मेदारी हमारी रही कि भगवानकी? हम जैसा करते हैं वैसा भोगते हैं। चाहे वह निमित्तनैमित्तिक भावसे फल मिले, और चाहे किसीका दिया हुआ फल मिले, किसी ही प्रकार मिले पर इसमें दो राय नहीं हैं कि हम पाप करें, हम बुरा करें तो हम बुरा फल पायेंगे अच्छा करें तो अच्छा फल पायेंगे। तो हम जिम्मेदार अपने ही तो रहे।

बातका बतगड—हम जरा-जरासी लोलुपताके पीछे मायामयी साधनोंके लिए मायाचार करें, तृष्णा करें, दूसरों पर दया न करें, यह कितनी बडी भूल है कि बात न चीत विडम्बना इतनी बडी कि जिसे जैसे लोग कहते हैं कि बातका बतगड हो गया। बात कुछ न थी और बतंगड इतना बढ़ गया, ऐसे ही समझो कि हम आपका जो इतना बतगड बना है, मरे, कीडा बन गए, मरे पशु बन गए, मरे पक्षी बने अथवा मनुष्य-मनुष्य भी रहकर हजारों तरहकी विपदाओंमें ग्रस्त हुए, कितनी आकुलता कितने विकल्प? इतना जो बतगड बना है वह जरा सी बातका बन गया। वह जरा सी बात कितनी कि यह मेरा ज्ञान अपनी ओर मुड़ करके न जाने और इसने इस तरह बाहरकी ओर मुँह करके जाना सो बतगड इतना बड़ा हो गया। तो जो यह बहिर्मुख दृष्टि है यही अधर्म है और अन्तर्दृष्टि होना यही धर्म है। हमें धर्म अधर्मका निर्णय देहधारीके ढगसे न करना चाहिए। हम मनुष्य हैं, यों मनुष्यके ढगसे न करना चाहिए किन्तु हम जीव हैं, आत्मा हैं उस आत्माके नातेसे हमें धर्म और अधर्मका निर्णय करना चाहिए।

अपना धर्म—भैया! अन्तर्वृत्तिके निर्णयसे समझ लिया होगा कि

अधर्मसे विपदायें आती हैं तो धर्मसे विपदायें नष्ट होती हैं। वैसे ही मोटे रूपमें लोकव्यवहारमें देख लो जो पुरुष दूसरोंको सताते हैं, दूसरोंके विषयमें झूठ बोलते हैं, दूसरोंकी चुगली निन्दा करते हैं, दूसरोंसे मायाचार रखते हैं, छल कपटका बर्ताव रखते हैं, कुशील बुरी निगाह करते हैं और जैसे आये वैसे परिग्रहके संचयकी धुनी बनाते हैं उस व्यवहारमें प्राय अन्य लोगोंके द्वारा विपदायें आती रहती हैं। हम सताते हैं दूसरों को तो कोई कमजोर हो, भले ही वह हमें कोई बदला न दे सके और कभी कभी तो कमजोर भी बड़ा बदला दे डालते हैं। यदि किसी समर्थसे पाला पड़ गया तो वह तो इसकी मनमानी मरम्मत कर देगा। अधर्मका बर्ताव रखे तो यहां ही उपद्रव पड़ोसियोंके द्वारा आता है। जो झूठा होता है, जिसमें चोरीकी आदत पड़ी है, जो व्यभिचारी होता है उसे कोई लोग पास नहीं बैठने देते। लोग उसे बुरी दृष्टिसे देखते हैं। तो विपदायें बुरे लोगों पर अधर्मीजनों पर आती हैं यह तो यहीं नजर आता है। किन्तु जो लोग धर्म पूर्वक अपना व्यवहार रखते हैं, सच्चाईसे रहना, दूसरेका चित्त न दुखाना, अपनी दृष्टि सही बनाना, ब्रह्मचर्यकी साधना रखना, ऐसे सत् आचरणोंमें जिनका वातावरण पलता है उनका सब लोग आदर करते हैं।

धर्मकी आनन्दप्रदायकता—यह बात बिल्कुल सही है कि धर्म जीवको कष्टसे अलग रखता है, वह कष्टसे अलग रखे इतना ही नहीं, किन्तु आनन्दरूपी अमृतके जलप्रवाहसे यह धर्म समस्त जगत्को तृप्त करता है। धर्मकी स्थितिमें स्वका रूप ही इस प्रकार बन जाता है कि वहाँ सत्य आनन्द झरता है। जहाँ क्रोध, मान, माया, किसी भी परद्रव्यकी चाह नहीं है, ममत्व नहीं है ऐसी विशुद्ध स्थिति हो तो वहां क्लेशका क्या काम है? आनन्दरूपी अमृतका प्रवाह झरता है वहां जहा यथार्थतासे प्रेम हो। प्रवाहसे समस्त जगतको तृप्त भी बनाये रहता है। जगतके प्राणी यत्रतत्र जलते रहते हैं उसका कारण है कि ये अतृप्त हैं, तृप्त हों तो क्यों भ्रमण करें, क्यों नये-नये जन्म धारण करें? यह जीव तृप्त नहीं है और अतृप्तिका कारण है जीवको पञ्चेन्द्रियके विषययोंमें और मनके विषयोंमें प्रीति जगी है, और इन विषयोंके प्रेमसे यह जीव अतृप्त है। यह अतृप्ति कब मिटे? जब विषयोंकी प्रीति न रहे और खुद ही जो प्रभुस्वरूप है उसकी भक्ति जगे तो यह अतृप्ति दूर होगी, असन्तोष दूर होगा और सन्तोष प्रकट होगा।

महान् कार्य—सबसे बड़ा काम है अपनेको धर्मरूप बनाये रहना। अधर्म करके मानो कुछ वैभव भी आ रहा हो, प्रथम तो वैभव अधर्मसे आता नहीं, इसके ही पूर्व धर्मसे जो पुण्य बना, उसके प्रतापसे वैभव आता मान लो वैभव आ रहा है और उस कालमें भी अधर्मका बर्ताव करे

है और घर छोड़कर भी अज्ञानी मोही है। जब तक अपनी ज्ञानदृष्टिमें उत्साह रखनेकी पक्व स्थिति न बने, घर छोड़ करके अपने आपके संयम की चर्याको भली प्रकार निभा सके ऐसी पक्की स्थिति न बने तब तक तो उसका घरका छोड़ना भी बेकार है। जो चीज सामने रखी है तो सामने होनेपर भी उससे राग न करे यदि कुछ भी विवेक हो तो यह बात करना सरल होता है अन्यथा जो वस्तु हमें न मिले या जिसे छोड़ दे उस वस्तु का राग छोड़ना कठिन होता है। जैसे आपके घरमें सब साधन हैं और थोड़ा आप विवेकी हैं तो आपको उन साधनोंमें आसक्ति न होगी। जो चीज सामने नहीं है रात दिन वही ख्यालमें रहेगी और जो चीज सामने है उसमें इतना राग नहीं हो सकता, ऐसी भी स्थितियां होती हैं। इससे हमें चाहिए कि ज्ञान बढ़ायें। वस्तुके स्वरूपका निर्णय रखे, सच्चा ज्ञान रखनेका यत्न करें, इस ओर हमारा बहुत यत्न होना चाहिए। जब हम ज्ञानदृष्टिसे परिपक्व हो जायें तब हमारा त्याग भी हमें लाभ देगा। अज्ञान अवस्थामें बाहिर त्यागसे लाभ नहीं प्राप्त होता।

धर्मका प्रसाद—अहा, धर्ममें तो यह सामर्थ्य है कि वह ऐसी अनुपम निराकुलताको, मुक्तिरूप लक्ष्मीको, मोक्षको प्रदान करता है। उस धर्मके प्रसादसे यदि लोककी विभूतियाँ बड़ी-बड़ी मिल जायें जिन्हें चक्रवर्ती आदिक भी चाहते हैं तो उनमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। बल्कि यों समझिये कि धर्मका तो बहुत ऊँचा फल है। उस धर्मके साथ जो छोटा-छोटा धर्मानुराग रह रहा है उस रागका यह फल है कि बड़ी-बड़ी विभूतियाँ मिल जाती हैं। धर्मके फलमें तो मुक्ति मिलती है और धर्म होनेके साथ-साथ जो गलती हमारी रहती है उस गलतीके फलमें यह विभूति मिलती है याने धर्मका सम्बंध पाकर गल्तीमें भी इतना प्रताप पड़ा हुआ है तो फिर धर्मकी सामर्थ्यका तो कुछ कहना ही क्या है। तीर्थंकरकी लक्ष्मी, समवशरण लक्ष्मी जो तीनों लोकोंके द्वारा पूज्य है भगवानका ऐश्वर्य उसे भी प्रदान करने वाला यह धर्म है। इस धर्मको हम भावना बनायें, धर्मकी ओर अपनी रुचि रखें तो हमारे लिए लोकमें कुछ शरण है अन्यथा फुटबॉलकी तरह यहाँके वहां धक्के खाते ही रहना होगा, जन्म मरण करते रहना होगा।

धर्मो व्यसनसपाते पाति विश्व-चराचरम्।
सुखामृतपय' पूरैः प्रीणयत्यखिल जगत ॥२०३॥

धर्मकी रक्षकता—कष्टके आने पर इस चराचर विश्वकी रक्षा करनेमें समर्थ एक धर्म ही है। धर्म ही हमारा रक्षक है। इसका कारण यह है कि हमारा अधर्म ही हमें विपत्तियां देता है। तो अधर्म का विरोधी है धर्म

जायगा। घमण्ड कर करके जो कष्ट उठाया जाता है वह उस घमण्डको छोड़ दे कष्ट अपने आप समाप्त हो जायगा। मायाचार करके यह जीव कितना दुःखी रहा करता है, निरन्तर शल्यवान् रहा करता है। मेरे मायाचारका किसीको पता न पड़ जाय, ऐसी बात वह मनमें रखता है उसको छिपाने की शल्य बनी रहती है। क्रोध करता है कोई तो क्रोधको छिपाने की बात कौन विचारता है? जाहिर हो जाये तो हो जाय। यदि क्रोधको छिपानेकी भी कोई मनमें सोचता है तो वह क्रोधकी बात नहीं हुई, मायाचारकी बात हुई। तो मायाचार अन्तःशल्य पैदा करता है। जैसे देहमें कहीं कांटा चुभ जाय तो वह कांटा ही एक शल्य पैदा करता है। इसी तरह मायाचारका परिणाम अपने अन्तःमें चुभन पैदा करता है। मायाचारको छोडे और स्वयं अनुभव करे कि देखो हमको कितनी शान्ति मिली है? लोभ लोभ भी क्लेशोंका मूल है, उसे छोड़कर अनुभव कर तो कितनी शान्ति मिली है?

तृष्णाके परिहारमें धर्मका अवकाश—लोभका रंग भी बड़ा विचित्र है। कितना भी कुछ जुड़ता जाय पर यह लोभी जीव मना नहीं करता। इसके लोभ लगा रहता है। जो आज है आपके पास कभी इसका चौथाई भी न था ऐसी परिस्थिति वाले लोग हैं, किन्तु चतुर्गुणा आ जाने पर भी चित्तमें यह सन्तोष तो नहीं कर पाते कि इससे अधिक मुझे कुछ न चाहिए। और प्रथम तो यह बात है कि सभीके पास जिसके पास जो कुछ है वह जरूरत से कई गुना अधिक है। लोग तो यह कहते हैं कि हमारी जरूरत पूरी ही नहीं हो पाती, बहुत कम धन है और बात यह है कि सबके पास इतना अधिक धन है कि वह उनकी जरूरतसे ज्यादा है। इसका प्रमाण यह है कि आपसे भी कम जिनके पास वैभव है उनपर निगाह डालो, उनका भी गुजारा हो रहा है या नहीं। तब यह निर्णय अपना बना लो कि हमें जो मिला है। वह जरूरतसे कई गुना अधिक मिला है। अज्ञानी जन उद्दण्डतावश अपनी जरूरतें बढ़ाते हैं और अपने को कष्टमे रखते हैं। सीधा सादा रहन-सहन भोजन, सीधा बर्ताव हो और वैभव फिर जितना अधिक आये उसका सदुपयोग करें, परोपकारमें लगायें तो इस वृत्तिसे बड़ी शान्ति मिलेगी।

उदारतासे ख्याति—लोग धन जोड़कर यही तो चाहते हैं कि इस दुनियामें मेरा नाम बड़ा हो। तो क्योंजी कोई यदि धनका त्याग करे, दान करे, कोई बड़ी चीज पब्लिकके कल्याणके लिए बनाये तो क्या उसका नाम बड़ा नहीं होता? धनको जोड़ते रहनेका नाम बड़ा होना है या उदारता का नाम बड़ा होना है? यह मनमें बात न लाये कि मेरे पास धन अधिक

तो यों कहा जाता कि अन्यायसे पैसा कमा लिया। यों अधर्म करके कभी वैभव भी आये तो नफेकी बात न समझिये। वह वैभव भी खत्म होगा और पाप करनेके फलमें कभी कुछ देर लग जाय तो भले ही लग जाय, पर यह अंधेर नहीं है कि पापका फल न मिले। कर्म संचित होते रहते हैं और कभी एकदम बुरी प्रकारसे फूट निकलते हैं।

अध्यात्मपुरुषार्थका अनुरोध—धर्म ही जीवको कष्टसे बचाता है और धर्म ही जीवको आनन्दमें बसाकर तृप्त बनाये रहता है यह अपने एक ज्ञानके प्रयोग द्वारा साध्य है। यहीं बैठे ही बैठे आप लोग बाहरका सब ध्यान भूलकर जब संसारमें हमें अकेले ही जन्म मरण करना पड़ता है, सुख दुःख भोगना पड़ता है इसका अन्य कोई साथी नहीं है, तब बाह्यको क्यों भीख माँगे, यों विवेक करके जब अन्तरमें थोड़ी देरके लिए ख्याल ही भुला दें समस्त परका व एक अपना ही ध्यान लगायें और देहसे न्यारा अपने आपको विचारें, ऐसा विविक्त सबसे जुदा ज्ञानपुञ्जरूप अपने आप को सोचें तो इस अध्यात्म पुरुषार्थमें आनन्द अपने आप झर पड़ेगा।

परसे सुख माननेका भ्रम—जिन विषयोंसे पर्यायबुद्धि जीव सुख माना करते हैं वे विषय इस आनन्दमें बाधा देने वाले हैं, पर मोहीको इस मर्म का क्या पता? आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है, पर अपनेको न आनन्द स्वरूप मानकर यह व्यामोही प्राणी किन्हीं बाह्य पदार्थोंसे विषयोंसे मुझे आनन्द मिला ऐसी दृष्टि बनाता है और इस दृष्टिमें यह अपने आनन्द को खो देता है। जब कभी विषयोंको भोगते हुए भी सुख मालूम हो तो रहा हो वहाँ भी कहीं भोजनसे, घरसे, वैभवसे, स्त्रीसे, मित्रसे सुख नहीं आता है, वहा भी अपनेमें बसा हुआ जो आनन्द गुण है उस आनन्दसे सुख आया करता है किन्तु मोही जीवको इस मर्मका पता नहीं है, सो वह भोगता तो है अपने ही आनन्दका सुख, किन्तु मान रहा है कि मुझे दूसरे जीवसे अथवा अमुक पदार्थसे सुख मिला है। कभी किसी पदार्थसे सुख निकलता हुआ किसीने देखा है अथवा किसी जीवका सुख उस जीवसे निकलकर मुझमें आये, ऐसा कभी देखा है? प्रत्येक परिस्थितिमें जब कभी भी हम सुखी होंगे तो अपने ही आनन्दके परिणमनसे सुखी हुआ करते हैं।

धर्मका प्रारम्भिक पालन व कषायोंका परिहार—मैं जीव हूँ, मेरा स्वरूप ज्ञान है, आनन्द है। यों अपने ज्ञान और आनन्द स्वरूपकी दृष्टि बने, यही प्रारम्भिक धर्मका पालन है। धर्मके निर्णयके लिए यहां दृष्टि न फँसायें। अपना स्वरूप तो धर्म है। अधर्मकी बात छोड़ी कि धर्मका आनन्द स्वयमेव आ जाता है। जैसे आप गुस्सा छोड़ दें तो क्षमा अपने आप आ जायगी। गुस्सेसे जो कष्ट हुआ था वह कष्ट नष्ट होकर आनन्द अपने आप आ

हैं। जगत सुखी होता है तो ये मेघ भी कब काम देते हैं जब जीवोंके पुण्य का उदय हो। पुण्य अथवा धर्म न हो जीवोंके तो ये मेघादिक भी उपकारी नहीं बन पाते। कोई उपकारी बन रहा हो तो वहाँ भी यह निर्णय रखना कि हमारे धर्मके कारण, हमारे पुण्यके कारण यह उपकारी बन रहा है।

वायु द्वारा उपकार—हवाका कितना अधिक उपकार है? हवा बिना तो आग भी जिन्दा नहीं रहती। कोई खुली चिमनीका लैम्प है, उसके ऊपर ढक्कन धर दो तो वह बुझ जायगा। अग्नि भी हवा पाकर जीवित रहती है। हवाको पाकर वनस्पति, जल, पृथ्वी सभी सही रूपमें रहते हैं, और हवासे हवा भी जीवित रहती है। हम आप लोगोंको भी बहुत निकट उपकारी हवा है। जैसे कहते हैं कि अन्न तीन चार दिन भी न मिले तो कुछ भी बिगाड़ न होगा और पानी? अन्नकी अपेक्षा कुछ जल्दी मिलना चाहिए और हवा पानीकी अपेक्षा भी बहुत जल्दी-जल्दी मिलनी चाहिए। जैसे मान लो ५ दिन तक न खाया जाय तो भी मनुष्य जीवित रह सकता है तो जल बिना १-२ दिन ही मुश्किलसे निकल सकते हैं और हवा बिना तो दो एक घंटा भी निकलना कठिन है। तो समझिये हवाका हम आपपर कितना उपकार है; लेकिन हवाका लाभ मिलना उपकार होना यह भी हम आपके पुण्यके प्रतापसे होता है।

सूर्य द्वारा उपकार—सूर्यसे कितना उपकार है जगतका? न निकले सूर्य ४-१० दिन लगातार, खूब घनघोर बादल रहें तो इतने ही दिनोंमें मनुष्योंकी क्या हालत हो जायगी? गर्मीमें सूर्य बड़ा तीक्ष्ण निकलने पर यद्यपि वह असह्यसा होता है; किन्तु आपको मालूम है यदि अधिक तेज गर्मी न पड़े तो आगेकी सब ऋतुयें भी विषम हो जाती हैं। जिससे अकाल और मारी आदिकी नौबत आ जाती है तो सूर्य भी बारहों महीना इस जगतके उपकारके लिए प्रवर्तता है। वहाँ भी यह समझिये कि जीवोंके पुण्य का उदय है, उनका धर्म अस्तित्वमें है तो ये भी उपकारके कारण बन जाते हैं। मुख्यता इसपर नहीं देना है, अपने धर्म और पुण्यको महत्त्व देना है। धर्म है तो सभी लोग उपकारी बन जाते हैं और अपनेमें अधर्म है, दुराचार है, पापकी प्रवृत्ति रखते हैं, दूसरोंका अकल्याण करते हैं तो यहाँ कि लोग भी, जनता भी, पड़ौसी भी हमसे विमुख रहेंगे। वहाँ भी उपकार हमें नहीं मिल सकता।

चन्द्र व समुद्र द्वारा उपकार—चन्द्रमाका भी बड़ा उपकार है। मान लो सूर्य-सूर्य ही चौबीसो घंटा रहे, चन्द्रका उदय न आये, चन्द्रकी शीतल किरणोंका समय-समयपर सम्मिलन न हो तो भी सही व्यवस्था नहीं रह सकती। वहाँ भी यह बात लावो कि हमारा चन्द्र भी उपकारी तब होता है

है तो मैं आराम बढ़ाऊँ, बहुत वाहन रखूँ, बहुत साज शृङ्गार करूँ, बहुत नखरे नाज करूँ, ऐसी बात मनमें न लायें। कितना भी वैभव हो अपनी सादगी न छोड़े। वैभवका सदुपयोग दानमें और परोपकारमें तो करें पर अपने आराम साजशृङ्गारमें न करें। इस सादगीसे अनेक फायदे हैं। कभी वैभव न रहे तो यह दुःखी नहीं हो सकता क्योंकि इसकी सादगी से रहनेकी आदत है। कभी कोई साधन न मिला आरामका, साज शृङ्गार का, तो यह दुःखी नहीं हो सकता। फिर लौकिक लाभ तो जो यशका है वह तो इसको कृपणसे भी अधिक यश है। कृपणका कहाँ यश होता है ? जो अपने विषयोंसे सम्बंध नहीं रखते ऐसे कार्योंमें कोई अपना धन व्यय करे तो वह उदारता है। उदारता बिना यह त्याग नहीं हो सकता। तो लोभसे कितनी पीड़ायें उत्पन्न होती हैं, लोभ तज दो और उसी समय अनुभव करो कि हमें कितना आनन्द मिला है, हमारे क्लेशका कितना बोझ हट गया है ?

धर्मसे संकटोंका विनाश—भैया ! कषायोंका अभाव हो अर्थात् धर्मका पालन हो तो उससे समस्त संकट दूर हो जाते हैं और धर्मका आनन्द ही स्वरूप है। ऐसे आनन्दके प्रवेशमें यह धर्म धर्मात्माको सुखी कर देता है। हम अच्छा आचरण करें, बुरे आचरणसे दूर रहें, अपने आपपर अपनी जिम्मेदारी समझकर, मैं ही अपना जिम्मेदार हूँ ऐसा मानकर जिस प्रकार से अपनी सुगति बने, शान्ति मिले उस प्रकारका संतोष रखना चाहिए अर्थात् धर्मका अपना वातावरण रखना चाहिए जिससे अशान्ति दूर हो।

पर्जन्यपवनार्केन्दुधराम्बुधिपुरन्दराः।
अमी विश्वोपकारेषु वर्तन्ते धर्मरक्षिताः ॥२०५॥

धर्मरक्षितोंकी विविध वस्तुओंसे रक्षा—कभी किसी चीजसे अपनी रक्षा हो रही है ऐसा मालूम पड़े तो वहाँ भी यह अर्थ लगाना कि हमारी धर्मसे रक्षा हो रही है। क्योंकि धर्म न हो, पुण्य न हो तो बाहरमें भी हमें रक्षा का साधन न मिलेगा। मेरे अथवा समस्त जगतके उपकारके लिए जो मेघ पवन, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, समुद्र, इन्द्रादिक जो-जो भी हमारे उपकारके लिए प्रवृत्ति कर रहे हैं तो वे सब भी समझिये धर्म द्वारा रक्षा किए हुए ही प्रवर्तते हैं, अर्थात् अपने पल्ले धर्म न हो तो यहा कभी भी अपना उपकार नहीं हो सकता।

मेघ द्वारा उपकार—देखो मेघोंका कितना बड़ा उपकार है ? मेघ समय पर बरसें तो उससे अनाज तो उत्पन्न होता ही है, पर साथ ही साथ शुद्ध ऋतु शुद्ध वायुका भी लाभ होता है। ठंडके दिनों तकमें भी यदि पानी कभी न बरषे तो उसे सूखी ठंड कहते हैं, और उससे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। मेघसे अन्न उत्पन्न होता है जगतके प्राणी उसका उपभोग करते

यहां निर्णय रखे कि मैं दूसरे जीवोंको पालता हू, मैं करनेवाला हू, सो यह सोचना गलत है कोई किसीको पालता नहीं है, सबका अपना-अपना पुण्य है जिसके साधनसे सब अपनी-अपनी रक्षा पाते हैं। एक मालिक मिल चलाता है जिसके हजार नौकर काम करते हैं। उस प्रसंगमें मालिक का यह सोचना गलत है कि मैं इन हजार आदमियोंको पालता हूं, इनकी आजीविका लगाता हूं। यदि इसके बजाय कोई यह कहने लगे कि ये हजार आदमी इस मालिकको पालते हैं और इसकी आजीविका बनाये हैं तो कुछ बात गलत है क्या ? अरे मालिकका निमित्त पाकर वे हजार आदमी पल रहे हैं तो उन हजार नौकरोंका निमित्त पाकर यह मालिक भी पल रहा है। पुण्यके फलमें एक दूसरेके निमित्त बना करते हैं।

किसीसे घृणा करना दुर्गतिका प्रभाव—यह भी सोचना गलत होगा कि हम अपनेसे किसी छोटेको देखकर यह भाव बनाये रहें कि यह मेरे किस कामका है, बेकार है, व्यर्थका है। मैं इतना काम करता हूं, लोगोंके काम आता हूं, इसका भी मैं रक्षण करता हूं यह सोचना भी गलत है। संसारमें वास्तवमें न कोई छोटा है, न कोई बड़ा है। जो आज छोटा है वह कल बड़ा हो सकता है, जो आज बड़ा है वह कल छोटा हो सकता है। लोक परिवर्तनमें अर्थात् मरण होने पर तो एकदम ही पलट हो जाती है। मानो कोई आज राजा है और उसका कर्म अच्छा नहीं है तो मरकर कीड़ा बन जाय, सूकर, गधा बन जाय। जीव वही है जो पहले हजारों नगरों पर राज्य करता था और १० ही मिनट बाद क्या स्थिति हो गयी ? कीड़ा बनकर रेंग रहा है जिसका कुछ महत्व नहीं है। जो आज कीड़ा है, सूकर श्वान है कहो वह मरकर राजघरानेमें जन्म ले। तो यहां किसे छोटा और किसे बड़ा मानते हो ?

छोटोंसे भी महोपकारकी संभावना—दूसरी बात यह है कि कभी ऐसी घटनाएँ होती हैं कि छोटा भी आपके प्राण बचानेके काम आता है। तो इस संसारमें दूसरे जीवकी स्थितियोंको निरखकर किन्हींको छोटा समझना अपनेको बड़ा समझना और अहंकार करके अधर्मको पुष्ट करना यह विवेक नहीं है। बच्चोंकी किताबोंमें एक कथा आयी है कि एक जंगलमें सिंह रहा करता था। सिंह जब कुछ सोया हुआ सा आराम करता हुआ पड़ा रहता था तो एक चूहा सिंहके ऊपरसे निकल जाय। सिंहकी नींद खुले और उसे बड़ा गुस्सा आये, लेकिन वह तो जल्दी भाग जाय। दसों बार चूहेने हैरान किया। एक बार सिंहकी पकड़में चूहा आ गया तो पंजे तले दबा हुआ चूहा कह रहा है कि ऐ वनराज ! तुम मुझे छोड़ दो। तो वन-राज कहता है कि तूने मुझे बहुत हैरान किया। तू इतना तुच्छ कीट जो

जब हममें स्वयं धर्म हो और पुण्य हो। पृथ्वीका भी बड़ा उपकार है, समुद्र का भी बड़ा उपकार है। समुद्रका तो यह उपकार है कि जितनी भी वर्षा होती है उसका मूल कारण समुद्र है। वहाँसे भाप उठी आसमानमें फैली, फिर वह इकट्ठा होकर समय पर बरसती है। और वर्षासे कितना अधिक उपकार है? एक ऐसी किम्वदन्ती है कि एक बार होलीने राखीको निमंत्रण किया। ये पर्व होते हैं। एक चमत्कारकी बात है। होली या राखी कोई देवी या मनुष्य नहीं है। तो जब राखी होलीके यहाँ पहुँची तो होलीके दिनोंमें कितने हर्षका शोर रहता है। मकान साफ, वातावरण साफ, ठंड न गर्मी, लोग खूब मौजसे रहते हैं। और जब राखीने होलीको निमंत्रण किया तो होली आयी तो देखा कि कहीं गन्दी नालीं हैं, कहीं कीचड़ है। सावनके राखी के दिनोंमें यही होता है। तो होली नाक सिकोड़े। राखीने सोचा कि होलीने तो हमारा अपमान किया, सो सोचा कि हम होलीसे बदला लें। अब अगले वर्ष पानी न बरसा, राखीने मानो पानी न बरसाया, फिर होलीके यहाँ राखी गयी तो वहाँ सारा मामला खराब। जब उपज नहीं तब वह चैन कहाँसे आये? समझिये कि वर्षाका कितना उपकार है?

इन्द्रादिकों द्वारा उपकार—इन्द्रसे महापुरुषोंसे किसीसे जितने भी जो कुछ उपकार हुए हैं वह सब हमारे पुण्यका प्रताप है। अतएव यदि दुनिया से लाभ चाहिए तो अपनेको धर्मात्मा बनाओ, पुण्यके कार्य करो, पापके कार्य मत करो। दूसरोंको न सताओ, किसीकी जान न लो, झूठ न बोलो, चोरी न करो, कुशील न करो और परिग्रहकी तृष्णा न बढ़ाओ। एक प्रभुकी भक्तिपूर्वक लोगोंका उपकार करके अपना जीवन बिताएँ तो इस भवमें भी आनन्द मिलेगा और आगे भी आनन्द होगा।

मन्येऽसौ लोकपालानां व्याजेनाव्याहतक्रमः।
जीवलोकोपकारार्थं धर्म एव विजृम्भितः ॥२०६॥

लोकपालों द्वारा उपकार—इस लोक व्यवस्थामें जो बड़ी-बड़ी व्यवस्थाएँ हैं, राज्य अच्छा हो, राजा भी नीतिवान् हो अथवा अपने रक्षक अधिकारीका अपनी ओर प्रेम हो आदिक जितने भी ये बड़े पुरुषोंके द्वारा होने वाले लोकोपकार हैं उनके रूपसे मानो यह धर्म ही निर्विघ्न रूपसे फैला हुआ है। राजा प्रजाजनोंको निरखकर जो अपना आनन्द भाव बनाता है वह राजाका पुण्य है और और राजाके उस पुण्य फलमें सब प्रजाजन कारण बने हैं और हम प्रजाजन जिस राजाके राज्यमें रहकर सुखसे धर्म साधन करते हैं, सुखपूर्वक रहते हैं वह हम सबका पुण्यफल है और उसमें कारण राजा है।

जीवोंका पारस्परिक उपकार—जीव-जीव परस्परमें उपकारी हैं, कोई

कार्यसमापनका उपाय—भैया ! करने-करनेसे काम समाप्त नहीं होता। कुछ करनेको न रहे उससे काम समाप्त होता है। करने करनेके रोगमें तो सारी जिन्दगी गुजर जाती है। जैसे कोई बालक है, विद्या पढ रहा है कुछ धर्म ध्यानकी ओर भी चित्त है तो वह कल्पना करता है कि हम कुछ बडे हो जायें फिर हम सब दंदफंद छोड़ देंगे। अभी तो हम परतंत्र हैं, मा बाप जैसा चाहे रखते हैं हम बडे हो जायें फिर धर्म करेंगे। बड़ा होता है तो वहां कल्पनाएँ जगती हैं अभी कुछ १०-५ वर्ष घरमें रहें, अभी शादी हुई है, घर गृहस्थीका सुख देखें बादमें खूब धर्म करेंगे। जब बच्चे भी हो गए, सारा काम बच्चे संभालने लगे तब थोड़ा शौक उमड़ता है कि हम पोते देखें। तो करनेका तो ऐसा रोग है कि करने-करनेका काम पूरा नहीं हो सकता। करना भी न रहे ऐसे भावमें काम पूरा होता है। अब सोच लीजिए करनेका काम पड़ा रहे उसमें शान्ति मिलेगी या जब करनेको कुछ नहीं रहा यह आशय बने वहाँ शान्ति मिलेगी? करनेको पड़ा रहे कुछ उस कल्पनामें शान्ति नहीं मिल सकती। करनेको कुछ न रहे इस भावमें शान्ति मिलेगी।

ज्ञानसे ही कृतकृत्यता संभव—करनेको कुछ न रहे, यह बात कर-कर करके मिलेगी क्या? नहीं। ज्ञानसे मिलेगी। जब वस्तुके सही स्वरूपका बोध हो कि प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है, अपनी शक्तिसे है। उसका जो कुछ भी परिणमन होता है उसमें जो भी बात बनेगी वह उसकी ही परिणतिसे बनेगी करनेसे नहीं। मैं अब भी किसी पर-पदार्थमें कुछ करता ही नहीं हूं। अपना भाव ही गूंथ रहा हू। अपनी कल्पना ही बना रहा हू। यह भी मैं किसी परका कुछ करता नहीं। अपना ही करने वाला हूं। तो मेरे करनेको परमें रखा क्या है? मैं करता ही क्या हू? मैं कर ही नहीं सकता। अपने भावोंकी सृष्टि रचता रहता हूं। बस यही मेरा कर्तव्य है। जब वस्तुका स्वरूपका भान होता है उस समय यह भाव बनता कि मेरे करनेको कुछ बाहरमें नहीं पड़ा और वही एकाग्र बन सकता है। वही ध्यानमें सफल हो सकता है जिसको यह निर्णय पड़ा हो कि मेरे करनेको कुछ नहीं पड़ा है।

चित्तकी अस्थिरताका कारण—जो धर्ममें, जापमें मन नहीं लगता। मन स्थिर नहीं होता, जगह-जगह मन डोलता रहता है उसका कारण क्या है? चित्तमें यह बात बसी हुई है कि मेरे करनेको यह काम पड़ा है। इस बातके बसनेके कारण चित्त अपनेमें एकाग्र नहीं हो पाता। मूल बात यह है। और यह बात सब जगह घटित होती है। कोई मोही जीव है उसका धर्ममें मन नहीं लगता तो वहाँ भी यही कारण है। किसीने घर त्याग

न तस्त्रिजगतीमध्ये भुक्तिमुक्तयोर्निबन्धनम्।
प्राप्यते धर्मसामर्थ्यान्न यद्यमित मानसैः ॥२०७॥

संयमी जनोंको सर्वसमृद्धिलाभ—जिसने अपने मनको संयत बनाया है, अपने मनोभावों पर संयम किया है उस पुरुषको लोकमें कोई भी चीज अलभ्य नहीं है, शान्तिके सभी साधन प्राप्त होते हैं। जिनको जगतके किसी भी पदार्थकी इच्छा नहीं है उसको सब चीजें प्राप्त होती हैं, इस बातको दो पद्धतियोंसे समझें, प्रथम तो जो पुरुष रागद्वेष मोहसे दूर रहता है वह विशुद्ध होता है। उसके ऐसा पुण्यका बंध होता है कि पुण्यके उदयमें अनेक तरहकी समृद्धियां हाजिर हो जाती हैं। एक शंका की जा सकती है कि सुख समृद्धियां तो बहुत तरहकी हैं, सब इसके पास कैसे पहुंचती हैं। तो उसका उत्तर एक यह लें कि जितनी उसकी कामनाएँ हैं उतनी समृद्धि उसके पास आ जाती है। दूसरी पद्धतिमें यह अर्थ समझो कि जिसको किसी वस्तुकी चाह ही नहीं है उसे निराकुलता है, और जिसको निराकुलता है उसको सब कुछ मिल गया। कुछ भी चीज पास नहीं है इस पर दृष्टि न दें किन्तु उसके निराकुलता है, ज्ञान है, शान्ति है, इसपर दृष्टि दें। जिसने समस्त रागद्वेष मोहका त्याग कर दिया है, केवल शुद्ध निज ज्ञानस्वरूपके ध्यानमें ही लीन रहा करता है उस पुरुषको सब कुछ मिल गया। अब क्या चाहिए?

विशुद्ध ज्ञानमें अकर्तृत्व—सिद्ध भगवानको परमात्मप्रभुको कृतकृत्य कहा है। जिसने समस्त कृत्य कर लिया उसे कृतकृत्य कहते हैं। काम वह एक भी नहीं करते और कहा गया कृतकृत्य, जिसने सारे काम कर लिये। तो अर्थ यह है कि ज्ञानका जहां शुद्ध विकास है वहां बस ज्ञान परिणमन ही रहा करता है। उन्हें बाहरमें कुछ करनेको हुआ ही नहीं करता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि बाहरमें कुछ करनेको तो किसीको भी नहीं पड़ा, मोही जीव भी बाहरमें कुछ नहीं किया करता लेकिन कल्पनाओंमें तो माना है इस लिए उसे कर्ता कहा गया है। वस्तुका स्वरूप तो ऐसा है कि कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थका कर्ता नहीं होता लेकिन मोही जीवने अपनी कल्पनामें तो कर्ता मान लिया। बस कर्तृत्वकी कल्पना मिट जानेका नाम ही अकर्ता है। वस्तुस्वरूपकी ओरसे देखो तो प्रत्येक जीव अकर्ता है। कोई किसीका कुछ करता नहीं है। तो जिसके किसी भी परवस्तुकी इच्छा नहीं है, जो किसी भी परपदार्थमें कुछ परिणमन करनेकी उत्सुकता नहीं रखता उसने सब कुछ कर लिया। यह बात यहां ही ठीक बैठती है जिसको कुछ करनेको नहीं रहा। या इसे पर्यायवाची शब्द समझिये, अब करनेको कुछ नहीं रहा उसीका अर्थ है सब कुछ कर लिया।

तीर्थंकर तक होंगे। तो जन्म लेनेसे ६ महीना पहिले यहां भूलोकमें तो रत्नवर्षा होती है और नरकमें एक कोट रखा जाता है जिसके अन्दर वह नारकी जीव जिसे तीर्थंकर होना है सुरक्षित रहता है जिससे कोई सता सके। प्रथम तो जितने भी तीर्थंकर पुरुष हुए हैं वे सब ऊर्ध्व लोकसे आकर हुए हैं, स्वर्गसे। उसके ऊपरसे विमानोंसे, पर कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जो नरकगतिसे आकर तीर्थंकर हुए हों। नरक गतिमें तो पाप धुलते हैं। जो पाप पहिले कमाये हैं उन्हें धुलनेका वह स्थान है। वहां यदि कोई जीव सम्यग्दृष्टि है तो वह पापोंको धोकर निरखकर आता है और यदि मिथ्यादृष्टि है तो वहां भी पापोंको बाधता है। और, वह मरकर मनुष्य होता है या तिर्यञ्च होता है। नारकी जीव मरकर तुरन्त नारकी नहीं हो सकता ऐसा नियम है और देव भी मरकर तुरन्त देव नहीं होता, नारकी मरकर तुरन्त देव नहीं होता। देव मरकर तुरन्त नारकी नहीं होता। तो मिथ्यादृष्टि नारकी वहाँ पाप ही बाँधताहै। सम्यग्दृष्टि नारकी वहाँ पापोंको धोकर निरखकर आता है। तो जिसने सोलह कारण भावनाएँ भाई और तीर्थंकर प्रकृतिका बध किया वह तीर्थंकर होने पर या जन्म लेने पर ही इन्द्रादिक बडे-बड़े महापुरुष उनके चरणोंमें नमस्कार करते हैं, यह सब धर्मका प्रसाद है।

धर्मीकी आपत्तिमें रक्षा सुयोगकी अचिन्तित सभावना—कोई पुरुष समर्थ हो जिसे यह आशा है कि हम जिसको जिस प्रकार चलायेंगे जिसको जिस प्रकार बाँधेगे, मारेंगे उस प्रकार मरेगा ऐसे किन्हीं पुरुषोंके द्वारा कोई सताये गए हों तो भी उनके यदि धर्म है तो पता नहीं कैसी घटनाएँ बन जायें, उपद्रव भी आ जायें, पर वे उपद्रव उनके उत्सव बन जाते हैं। श्रीपाल राजाको धवल सेठने समुद्रमें गिरा दिया था जहांसे बचनेकी आशा न थी, लेकिन धर्मका प्रसाद है कि वह भुजबलसे तिरकर आया, उसमें ऐसी सामर्थ्य हो गयी और समुद्रके किनारे जब लगा तो उस नगरके राजाने सिपाही छोड़ रखे थे कि कोई तिरकर आये तो उसे हमारे पास लाना। श्रीपालको सिपाही राजाके पास ले गए तो राजाने उसका सन्मान किया, आधा राज्य दिया और अपनी कन्या विवाही। तो उपद्रवकी घटना भी पुण्यवत पुरुषोंके समारोहका कारण बन जाती हैं। तब फिर धनसे क्या करना, धर्ममें चित्त लगाना चाहिए। धनके सोचसे धन बढ़ता नहीं है। वह तो जो बढ़ता है सो बढ़ता है। वह सब धर्मका प्रसाद है।

वीतरागताका आकर्षण—तीर्थंकर पुरुष जन्म समयमें इन्द्रों द्वारा पूजे गए। तपश्चरण करने पर तो मुनीश्वर देव भी पूजे गए और केवल ज्ञानी बनने पर तो सबके द्वारा पूजे ही जाते हैं। कितना धर्मका प्रताप है। तीर्थं-

दिया और घर त्यागने पर भी यदि मन नहीं एकाग्र होता तो उसका भी यही कारण है। वह घरके काममें तो करनेका सकल्प नहीं करता किन्तु वहाँ जाना, यह करना, अब अमुक भाषण करना, अमुक धर्म साधन करना, ये तक भी चित्तको एकाग्र नहीं रहने देते।

शुद्ध दृष्टिसे धर्मकी प्राप्ति—तो जब शुद्ध दृष्टि होती है वहाँ जो धर्म भाव उत्पन्न होता है। उस धर्ममें यह सामर्थ्य है कि इसे सब शान्तिके साधन अपने आप प्राप्त होते हैं ऐसा कोई भी साधन नहीं है जो धर्मात्मा जीवको प्राप्त न हो सके। धर्ममें ऐसी सामर्थ्य है कि भावना करनेसे धर्ममें रुचि जगती है और जितने भी सुखसाधन शान्ति साधन मिलेंगे वे सब धर्मके प्रतापसे ही मिलेंगे।

नमन्ति पादराजीवराजिकां नतमौलय. ।
धर्मैक शरणीभूतचेतसां त्रिदशेश्वरा. ॥१०८॥

धर्ममूर्तिका सन्मान—जिनके चित्तमें एक धर्म ही शरण है उनके चरण कमलोंको बड़े-बड़े इन्द्रादिक भी नतमस्तक होकर नमस्कार करते हैं। सोलह कारण भावना भी धर्मके रूप हैं। जो पुरुष उन सोलह भावनाओंको भाता है उस सम्यग्दृष्टि पुरुषके तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध होता है। और जैसे-जैसे उस तीर्थंकर प्रकृतिका उदय होगा यद्यपि उदय होता है, १३ वें गुणस्थानमें भगवान होते हैं, अरहत होते हैं, केवल ज्ञानी होते हैं तब तीर्थंकरका उदय कहलाता है। साक्षात दिव्य धर्म देशना दिया करते हैं किन्तु उस भवमें जन्म लेनेसे ६ महीना पहलेसे इन्द्र उनकी भक्तिमें रत्नवर्षा कराता है। यह सब किसका माहात्मय है? धर्मका।

धर्मका महत्त्व—धर्म और अधर्म इन दोनोंको यदि एक तराजूके दोनों पलड़ों पर तौला जाय तो आपकी निगाहसे किसका पलड़ा भारी होना चाहिए? धर्मका। अर्थात् अपने जीवनमें महत्त्व धर्मको देना चाहिए, धन को नहीं। क्योंकि धन तो धर्म वालेका सेवक होकर आगे-आगे आता है। धनको क्या कोई हाथ पैर कमाते हैं? आपसे बढ़िया-बढ़िया हाथ पैर तो सैंकड़ों हजारों पुरुषोंके हैं, पर धनसे हीन भी देखे जाते हैं। धन आता है तो यह सब धर्मका फल है, और और सच बात तो यह है कि जो धनको न कुछ मानता है उसे तृणवत् समझता है उससे बढ़कर धनी कोई नहीं है। लेकिन लोकव्यवहारकी दृष्टिसे धनकी चर्चा की जाय तो धन वैभवका समागम भी धर्मका प्रसाद है। इसलिए धर्मका शरण कभी न छोड़ो, ये तो तीर्थंकर देव जब इनका जन्म होता है तो ६ महीने पहिले रत्नोंकी वर्षा नगरमें होती है। और यदि कोई नरकमें है वह जीव जिसे तीर्थंकर होना है तो ऐसा जीव तीसरे नरक तक पाये जाते हैं कि जो वहासे निकलकर

समझिये कि धर्म ही हमारा शरण सहाय रहा। धर्म ही वास्तवमें हमारा गुरु भी है। जिसको धर्मके प्रति लगन है यह लगन उसे सत्पथ पर लगाये रहती है। गुरुका काम क्या है कि शिष्यको सत्पथ पर लगाये, उसे सत्य रास्ता बताये जिससे वह अहितसे दूर हो, हितमें लगे। तो यही काम धर्म करता है।

धर्मका उन्नायकत्व—हमारे में धर्मकी लगन हमको सत्पथमें प्रेरणा देती है। विषय कषायोंसे। अहितके कार्योंसे यह धर्म दृष्टि हमें बचाती है। तब हमारा वास्तविक गुरु धर्म है। लोकमें हम जिन्हें गुरु कहते हैं, संत कहते हैं, साधु कहते हैं अथवा अपनेसे बड़ा कहते हैं वे पुरुष कदाचित् किसी कारणवश हमारे विमुख हो सकते हैं और हमें मार्ग दर्शनका कार्य भी वे न करें, वे छोड़ दें, किन्तु मेरा धर्म चाहिए, मैं कहीं होऊँ, कैसी ही अवस्थामें होऊँ किन्तु यह धर्म सदा जगाये रहता है, सत्पथमें लगाये रहता है।

धर्मकी ही गुरुता—तब मेरा वास्तवमें गुरु धर्म है। मैं ही अपना श्रद्धान बनाता हूं, मैं ही अपना ज्ञान करता हूं, मैं ही अपनेको हितमें लगाता हू, अतः मैं ही परमार्थसे मेरा गुरु हूं। चाहे यह कहो कि आत्माका गुरु आत्मा ही है चाहे यह कहो कि मेरा गुरु मेरा धर्म है। धर्म ही हमें कुपथसे बचाता है और सत्पथमें लगाता है। उस धर्मके लिए अपने आप को न्यौछावर कर दो, अपने आपको मिला दो। यह धर्म अवश्य ही हम आप सबको कल्याण प्रदान करेगा। मित्र भी यह धर्म ही है। मित्र उसे कहते हैं जो ऐसा स्नेह रखे कि अनेक आपत्तियोंसे बचाता रहे। मुझे आपत्तियोंसे बचाने वाला यहाँ कोई परपदार्थ है क्या? यद्यपि किसीके निमित्तसे मैं आपत्तियोंसे बच भी गया होऊँ लेकिन परमार्थसे वह मुझमें कुछ उत्पन्न करे अथवा आपत्तियोंसे बचाता रहे ऐसा तो नहीं है। मैं ही स्वयं धर्मके प्रसादसे आपत्तियोंसे बच गया हूं। तो कोई मित्र मेरे सुखमें निमित्त बने, आपत्तियोंसे रक्षा करनेमें निमित्त बने तो वहाँ भी मेरे धर्मका प्रताप है यह सब। जैसे लोग कहते हैं कि खुद भले तो जग भला। यदि खुद भले हों को तो मेरे लिए सब भले हैं और खुद ही बुरा होऊँ तो मेरे लिए सब बुरे हैं। ऐसे ही समझिये कि हममें यदि धर्मका विकास है तो हमारे सभी मित्र बन सकते हैं और हममें ही धर्म नहीं है, पुण्य नहीं है तो कोई मित्र भी नहीं बनता है। सब उदयानुसार बात होती है। भला उदय होनेपर अनेक मित्र रहते हैं और खोटा उदय होने पर बड़े पक्के मित्र भी किनारा कर जाते हैं। यहाँ ही देख लीजिए वैभव बढ़ रहा हो तो सब पूछ करते हैं, वैभव घट रहा हो तो फिर कोई पूछ नहीं करता। जब कोई टोटा पड़ गया हो, गरीबीकी स्थिति आ गयी हो तो फिर कोई भी

प्रभुका विशाल समवशरण रचा जाता है, कैसी अद्भुत रचना कि वैसी मनुष्यों द्वारा नहीं की जा सकती। वह समवशरण देवोंके द्वारा ही रचा गया है। उस बडे सुसज्जित अनेक कोट अनेक वेदिका अनेक रचनाओंके बीच १२ सभाओंके बीच मध्य कोटमें कमल पर सिंहासन पर अन्तरिक्ष विराजमान तीर्थंकर प्रभुके निकट चारों ओरसे देवी देवताओंका समूह नाचगान करता हुआ आता है। उस दृश्यको थोड़ा हृदयमें लाये तो इस भावनाके कारण कि यह सब तीर्थंकरका ठाठ है। एक अद्भुत भक्ति उत्पन्न होती है। कितने आश्चर्यकी बात है कि रागमें वह ठाठ नहीं बन सकता जो ठाठ वीतरागतामें बनता है।

वीतरागताका महत्त्व—वीतरागको कुछ न चाहिए मगर उतना ठाठ उतना साज किसी रागी पुरुषके नहीं बन सकता है। यहाँ ही देख लीजिए जो वीतरागतकी प्रकृति बनाये हैं ऐसे पुरुषोंके चाहने वाले लोग कितने हैं? बहुत हैं। जो धनसे अपना घर भरते हैं, किसी तरह किसी मेम्बरीमें आ गए, कोई अधिकारी बन गए तो घर भरा करते हैं ऐसी आदत जिनकी है उनके प्रति लोगोंका सम्मान रहता है क्या? और जो-जो भी नेता बहुत ऊँचे भावमें माने गए हैं उनमें यह एक बात मुख्य भी थी कि अपने लिए उन्होंने धन संचित नहीं किया। स्वयं एक साधारण मनुष्यकी तरह फक्कड़ रहे। देशके उपकारमें लोगोंको उस जातिकी वीतरागता विदित हुई ना, इसीलिए वे बड़े माने गए। धर्म भी वीतरागता ही है और यह धर्म जिनके चित्तमें समाया है उनके चरण कमलोंको इन्द्र भी नतमस्तक होकर नमस्कार करते हैं। यह १२ भावनाओंमें से धर्मभावनाका प्रकरण है। धर्म भावनामें धर्मकी महिमाकी भावना करना चाहिए। जैसे अपना धर्मकी ओर रुचि जगे उसी प्रयोजनको लेकर इस प्रकरणमें धर्मका माहात्म्य बताया जा रहा है।

धर्मो गुरुश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च बान्धवः।
अनाथवत्सलः सोऽयं सत्राता कारणं विना ॥२०६॥

स्वयंके धर्मकी ही शरण—इस प्राणीको धर्मके सिवाय अन्य कुछ शरण नहीं है। बहुत-बहुत घटनाओंको तो समझ लिया होगा कि हम आपका इस जगतमें दूसरा कोई शरण नहीं है। यदि कदाचित कोई अपना शरण बना, अपना मित्र बना, हितकारी बना तो उसमें भी समझना कि अपने सदाचारके कारण अपनी सभ्यताके कारण दूसरा पुरुष सहाय बना। दूसरा कोई सहायक बनता है तो वह यों ही नहीं बन जाता। जो जीव सदाचारी है, धर्मात्मा है, परोपकारी है, कुछ गुणी है उसके कारण लोग सहायक बनते हैं। पुण्यहीनका सहायक भी लोकव्यवहारमें कोई बनता नहीं है तब

मित्र अपने सेवककी रक्षा करता है इसी प्रकार यह धर्म मेरी रक्षा बनाये रहता है। अतः वास्तवमें मेरा स्वामी धर्म है।

धर्मका बन्धुत्व—धर्म ही वास्तवमें मेरा बन्धु है। भाई-भाईकी एक अनोखी प्रीति होती है। बिरला ही कोई भाई ऐसा होता है जो परस्परमें एक दूसरेसे विपक्षी हो जाता है, उस प्रतिपक्ष और विरोध होनेकाका कारण भी विषयों के साधन स्नेह है। विकार भावमें बह गए इसलिए विद्रोह करते हैं अपने ही भाईसे, पर कहते हैं ना लोग कि कभी कोई पुत्र गुजर जाय तो कुछ परवाह नहीं। और पुत्र हो जायगा, किन्तु भाई बिछुड गया सो भाई कहाँसे लायेंगे। इतनी भाईके प्रति प्रीति हुआ करती है लोक व्यवहारमें। लेकिन ये लोकव्यवहारके बधु भी मुझे धोखा दे सकते हैं, मेरे विरोधी बन सकते हैं पर धर्म एक ऐसा बन्धु है कि जो मेरा विरोधी नहीं हो सकता, मेरे साथ कभी भी कपट नहीं कर सकता। वास्तवमें मेरा बन्धु मेरा धर्म ही है और धर्मात्माओंसे प्रेम करने वाला भी यह धर्म है।

धर्मकी अनुपम वत्सलता—हम इस जगतमें कर्मोंके परवश होकर अनाथसे फिर रहे हैं। इस मुझ अनाथको किसीका अनुपम प्यार मिले जिससे मेरा कल्याण हो जाय तो ऐसा वत्सल मेरा धर्म ही है। अनाथोंकी कौन रक्षा करता है? कदाचित कोई किसी अनाथकी रक्षा भी करे तो वहाँ भी यह बात समझिये कि उस अनाथकी धर्मने रक्षा करा दिया। तो अनाथ वत्सल भी धर्म है और बिना ही कारण अपने किसी गरजके बिना मेरी रक्षा करने वाला भी कोई है तो वह धर्म ही है। कोई पुरुषसमुदाय कभी किसीकी रक्षा करता है तो कोई गरज रहती है तब वह रक्षा करता है। बिरले ही कोई संत ऐसे हैं जो बिना किसी गरजके दूसरेकी रक्षा करते रहते हैं। पर प्रायः संसारमें ऐसे पुरुष मिला नहीं करते। अत्यन्त विरले ही होते हैं। मिलते हैं किन्तु कम। लेकिन गरज साधकर दूसरेके काममें सहायक बनने वाले बहुत हैं किन्तु यह धर्म किसी भी गरजके बिना किसी भी कारणके बिना हमारी रक्षा करता है। तो सब प्रकारसे समर्थ धर्मको समझकर धर्मकी ओर रुचि बढायें। मुझे धर्म ही प्यारा है धर्म मुझे करना है, धर्म ही मेरा सच्चा सहारा है, ऐसा जानकर सर्वप्रयत्न पूर्वक एक धर्ममें ही रुचि करें।

धत्ते नरकपाताले निमज्जगतां त्रयम्।
योजयत्यपि धर्मोऽयं सौख्यमत्यक्षमङ्गिनाम् ॥२१०॥

धर्महीन जीवकी जघन्यता—धर्म नरकके पातालमें डूबते हुए इस जगतको आलम्बन देकर बचाता है और जीवोंको अतीन्द्रिय सुख भी प्रदान करता है। धर्मकी महिमामें उन दो बातोंका इसमें वर्णन किया है

साथ नहीं निभाता है। और किसी मित्रके कारण यदि हमें कुछ लाभ मिल रहा हो तो यहाँ भी अपने ही धर्मका प्रताप समझिये। हम आप सबको एक मात्र धर्म ही शरण है। किन्तु।

मेरा धर्म क्या—यह भी निरखिये कि वास्तवमें मेरा धर्म है क्या मेरा धर्म है सच्चा ज्ञान उत्पन्न करना और सत्य तत्त्वका श्रद्धान रखना। अपना आचरण अशुद्ध बनाया, पापोंसे मलिन, कषायोंसे युक्त अपना आचरण बनाया, श्रद्धासे भी पतित रहे, आत्महितका ख्याल भी न हो, तो यह जीवन क्या जीवन है। अपनेको रागद्वेष मोहादि सर्व विकारोंसे रहित रखें तो यही है वास्तवमें धर्म। इस ओर जो जितना चल सकता है वह उतना धर्मका मालिक है। तो मित्र भी हमारा वास्तवमें धर्म ही है, जो मुझे कभी दगा न दे सके। जो कभी मुझसे विमुख न हो सके। आप सोचिये धर्मके खातिर पुरुषोंने महिलाओंने अपने प्राण तक दे दिये। शीलवती सतियोंके चरित्र देखिये। कितने उनपर उपद्रव आये, पर वे अपने शील-पालन पर ही दृढ़ रहीं। और प्राण तजने पड़े तो प्राण तज दिये, मगर शीलको नहीं खोया। तो बड़े-बड़े पुरुषोंने धर्मके प्रति जो इतनी लगन लगायी तो कुछ बात तो है धर्ममें। धर्मका महत्त्व समझिये, धनका महत्त्व मत दीजिए। और यह भी समझ लीजिए कि धन बहुत जोड़कर रख लिया तो वह क्या काम देगा। मरने पर साथ नहीं जाता, बल्कि कभी-कभी यह धन ही प्राणघात करा देता है। तो कौन सी ऐसी खास खूबी है जो इस धनपर इतना मरा जाय।

धर्मका सच्चा स्वामित्व—अब अन्य प्रवृत्तियोंके मुकाबलेमें धर्मकी बात देखिये। धर्मका यदि परिणाम-भला है तो उसी समयमें इसे आनन्द है, क्योंकि रागद्वेष रहित परिणामका नाम धर्म है। तो जहा रागद्वेष नहीं है, ज्ञानका सही प्रकाश चल रहा है वहां नियमसे अनाकुलता है। वहां क्षोभका काम नहीं है। तो धर्म पालनसे इस भवमें भी निराकुलता मिलेगी और बहुत ही शीघ्र संसारके समस्त संकटोंसे मुक्त हो जायगा यह उसे भावी फल मिलेगा। धर्मका ही वास्तवमें शरण सत्य है। धर्मका ही महत्त्व जानो। धर्मकी रुचि करो, अपना स्वामी भी धर्म ही है। मेरा मालिक कौन ? जिसके हुकुममें हम रहें, और जिसके प्रसादसे हमें शान्ति मिले। ऐसा मेरा मालिक कौन है ? जगतमें कहीं बाहरमें ढूढो, कोई मालिक नहीं है। वस्तुका स्वरूप भी यही है कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें स्वयं स्वतंत्र है। किसी पदार्थका कोई मालिक नहीं है। मेरा मालिक बाहरमें कोई हो ही नहीं सकता। मेरा स्वामी मैं हू। वह धर्म स्वरूप है अर्थात् मेरा स्वामी धर्म है जो सदा सेवककी नाई मेरी रक्षा करता रहता है। जैसे मालिक

नियोंको पार कर करके आज मनुष्य हुए हैं। मनुष्यमें बुद्धि देहका बल और अनेक सम्पन्नताएँ इन्द्रियां सब समर्थ हैं।

विषयोंसे विरक्ति ही सुखका लाभ—इस स्थितिमें यदि विषयोंसे ही प्रेम रखा, पशुवृत्ति ही बनायी तो इसका फल फिर कुयोनियोंमें जाना है। यहाँ संभाल गए तो संभालेके बाद उत्तरोत्तर संभाल बढ़ती जायगी और इस मनुष्यभवमें भी संभाल बढ़ेगी। इस भवके बाद जिस भवमें जायगा वहाँ संभाले तो संभाल शुरू होना चाहिए और उस संभालकी संभाल भी बनी रहनी चाहिए। फिर उत्तरोत्तर साभल होते-होते यह जीव इस उत्कृष्ट हदमें पहुंच जायगा जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द बरषता है। यह सब इस धर्मका प्रताप है कि अत्यन्त निम्न स्थानसे निकलकर यह जीव अत्यन्त उत्कृष्ट मोक्ष स्थानमें पहुंचता है। धर्मके सिवाय अन्य किस पदार्थमें, अन्य किस पुरुषमें ऐसी सामर्थ्य है जो उसे दुःखसे छुटाकर सुखमें पहुंचा दे। किसीमें भी ऐसा प्रताप नहीं है, ऐसे प्रतापकी बात तो दुर रही, उल्टे एक प्रेमके साधन बनाकर अथवा नहीं अन्य पदार्थोंको अपने विषयका साधन बनाकर कल्पनाएँ करके रागद्वेष मोह करके उल्टा और कुगतिमें बढ़ता जाता है। किसी भी बाह्य पदार्थका सहारा नहीं है। वह तो गिरते हुएको और गिरानेका साधन है।

अनादिकालीन विषयोंमे झुकाव ही दुःखका मूल—प्रथम तो यह जीव ही अनादि कालसे विकारोंमें बसता चला आया है। इसकी प्रकृति विकारोंकी ओर चैन माननेकी पड़ गई है। विषय साधन मिले बिना इसे चैन नहीं होती। विषय साधन मिलने पर क्षुब्ध भी हो जाता, आकुलित भी हो जाता और चैन भी मानता जाता है। ऐसी विकट स्थिति है इस संसारी जीवकी। तो एक तो इस जीवकी प्रकृति ही विषयविकारकी ओर झुकनेकी है और फिर मिल जायें ये पुण्यके फल विषय साधन, बाह्य पदार्थ प्रेमपात्र तो ये और अधिक ढकेलनेमें सहायक होते हैं।

धर्मकी देन—इस जीवको दुःखसे बचानेमें समर्थ एक धर्म ही है। संालनेको धर्मका स्वरूप कहा है। जो संसारके दुःखोंसे छुटाकर उत्तम सुखमें पहुंचाये उसे धर्म कहते हैं। यह धर्मका ही प्रताप है जिसके प्रतापसे यह जीव निगोद जैसी खोटी योनियोंसे निकलकर मोक्ष जैसे उत्तम पदमें पहुंचता है। तो जैसे निर्बाधिक निम्नदशा निगोदकी है ऐसे ही सर्वोत्कृष्ट आनन्दकी दशा मोक्षकी है।

शरीर राग ही दुःखका कारण—यह शरीर, ये कर्म ये सांसारिक समागम दुःखके ही कारण बनते हैं। कल्पना करो कि यह मैं जीव जैसा अपने स्वरूपसे हूं अर्थात् अपने ही सत्त्वके कारण जैसा इस मुझमें स्वभाव

जो एक तो सबसे नीचे स्थित उससे बचानेकी बात है और एक सबसे उत्कृष्ट स्थिति उसके प्राप्त करनेकी बात है। जीवकी सबसे खोटी स्थिति है, यद्यपि निगोद इन तीनों लोकोंमें सर्वत्र भरा पड़ा हुआ है। लेकिन सब स्थानोंमें निगोदके अलावा और भी जीव प्रचुरमात्रामें पाये जाते हैं, किन्तु सप्तम नरकके नीचेका स्थान ऐसा है जहाँ निगोद जीवोंकी ही प्रचुरता है इसलिए निगोद स्थान नरकके नीचे बताया है। वैसे हैं सब जगह निगोद। निगोदका अर्थ है साधारण वनस्पति। ५ स्थावरोंमें अन्तिम नाम है वनस्पतिका। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति। वनस्पतिके २ प्रकार हैं—एक प्रत्येकवनस्पति एक साधारणवनस्पति। प्रत्येकवनस्पति तो हरी सब्जीका नाम है और साधारण वनस्पति, नाम तो है वनस्पति उसके नाम कर्मका उदय तो है ऐसा, पर वह हरी सब्जी नहीं है। यह जो खुला आकाश है इसमें भी अनन्त साधारण वनस्पति ठसाठस भरे हुए हैं।

साधारण निगोदका आश्रय—साधारण वनस्पति कुछ तो हरीके आधारमें रहती है और कुछ निराधार रहती है। जिस हरीके आधारमें साधारण वनस्पति रहती है उस हरीको व्रती लोग नहीं खाते। जैसे आलू, सकरकंद, मूली, लहसुन, गाजर आदि ये साधारण वनस्पतिसे सहित हरी वनस्पति हैं और अनन्त साधारण वनस्पति निराधार हैं। ये सब जगह मौजूद हैं इन निगोदिया जीवोंका देह बहुत सूक्ष्म होता है, और एक देहके अनन्त निगोदिया जीव स्वामी होते हैं। एक श्वासमें १८ बार जन्मते और मरते हैं, ऐसे निगोदिया राशिके सभी जीव प्रारम्भमें निगोदिया जीव थे। जो भगवान बने हैं वे आत्मा भी प्रारम्भमें निगोदमें थे और जो आज मनुष्य हैं वे भी प्रारम्भमें थे। तो निगोद इस जीवकी आदि स्थिति है और इस जीवकी अन्तिम स्थिति है यह अतीन्द्रिय सुखका स्थान मोक्ष। तो निगोद और मोक्ष दोनों का संकेत इस श्लोकमें है।

धर्मसे निगोदका छुटकारा—यह धर्म निगोदसे तो बचाता है और मोक्षमें पहुंचाता है। आदि और अन्तकी बात कहनेके बीचकी सब महिमा अपने आप आ गयी। इस लोकमें जितना वैभव है, जितनी समृद्धियाँ हैं वे सब धर्मके प्रताप हैं। तो यह धर्म नरकोंके नीचे जो निगोद स्थान है उसमें पड़नेसे बचाता है, अर्थात् निगोदसे हम आप तो निकल आये हैं और अनेक विकलत्रयोंकी योनिको भी पार करके आज मनुष्य हैं। यह सम्भव है कि हमारी करनी ठीक न रहे, हम आत्माको न सभाल सके, अपना सुधार न कर सके तो पुनः उसी निगोदमें जा सकते हैं। फिर हम निगोदमें न पहुंचें, इसके लिए यत्न है धर्मका। इस धर्मके प्रतापसे यह जीव निगोद स्थानसे बच जाता है। निगोदसे तो निकल आये और अनेक कुयो-

वितर्कोंसे, रागद्वेषादिक विभावोंसे अपनेको न्यारा समझें। तो यह भेद-विज्ञानरूप उत्कृष्ट धर्म बढ-बढ़कर निजके अभेदरूपी धर्मको उत्पन्न करके यह इस जीवको अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करा देगा। यों धर्मका माहात्म्य बताया गया है कि यह धर्म निगोदसे निकालकर, बचाकर इस जीवको मोक्ष सुखमें पहुंचा देता है।

नरकान्धमहाकूपे पततां प्राणिनां स्वयम्।
धर्म एव स्वसामर्थ्याद्दत्ते हस्तावलम्बनम् ॥२११॥

धर्मीकी वैपरीत्यमें भी धर्म वत्सलत्व—यह आत्मस्वभावरूप धर्मकी दृष्टि करने वाला धर्मपालन नरकरूपी महान अंधकूपमें गिरते हुए जीवों को मानो हस्तावलम्बन देकर बचा देता है। अर्थात् इस धर्मके प्रसादसे यह जीव नरक गतिमें नहीं जाता है। सम्यक्त्व धर्म है और सम्यक्त्व जिसके उत्पन्न हो जाता है वह कुयोनियोंमें जन्म नहीं लेता। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेके बाद यह मनुष्य यदि किसी आयुका बंध करे तो वह देव आयुका बंध करेगा या मोक्ष जायगा। सम्यग्दृष्टि मनुष्य सम्यक्त्वके रहते हुए भी संसारमें कुछ रहता है, उसे दूसरा भव धारण करना पड़ता है तो वह देव ही बनेगा या मोक्ष जायगा। सम्यग्दर्शनके रहते-सहते मनुष्य न तो तिर्यञ्च आयुका बंध करता है न नरक आयुका बंध करता है और न मनुष्य आयु का बंध करता है। हाँ कोई मनुष्य सम्यग्दर्शनसे पहिले नरक आयु, तिर्यञ्च आयु या मनुष्य आयुका बंध लगा हो उसके बाद सम्यग्दर्शन हो तो वह नरकमे, तिर्यञ्चमें और मनुष्यमे जीव तो सही पर नरकमें जायगा, पर सम्यग्दर्शन रहते हुए सम्यग्दर्शनसे पहिले नरक आयु बाँधनेके कारण पहिले नरकमें ही जायगा, इससे नीचे नहीं। तिर्यञ्चमें जायगा तो भोगभूमिया तिर्यञ्च बनेगा, कर्मभूमिया तिर्यञ्च नहीं। मनुष्यमें भी जायगा तो भोग भूमिया मनुष्य बनेगा, कर्मभूमिया मनुष्य नहीं। इसी तरह जो जो जीव देवगतिमें है वह देव सम्यग्दृष्टि बन जाय और सम्यग्दर्शनके बाद वह किसी आयुको ही बाँधेगा। अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव मरकर मनुष्य ही बन सकेगा, तिर्यञ्चमें न जाएगा, नरकमें न जायगा। तिर्यञ्चमें सम्यग्दृष्टि हो तो सम्यग्दर्शनके रहते हुएमें यदि आयुका बंध करे तो देव आयुका ही बंध करेगा, अन्य आयुका नहीं। इसी प्रकार नारकी जीव सम्यग्दृष्टि हो और सम्यक्त्वके रहते हुए आयुका बंध करे तो मनुष्य आयुका ही बंध करेगा। यह मनुष्योंको समझाया जा रहा है। अतएव यहाँ कहा गया है कि धर्म इस जीवको नरकमें जानेसे बचाता है।

भेद विज्ञानकी महिमा—धर्म प्रथम तो भेदविज्ञान है, जहाँ आत्माके स्वरूपका सही प्रकाश है। यह मैं जीव हूं, स्वरूपसे, स्वभावसे सहज ही

पड़ा है। मैं केवल उस ही स्वभावरूप रहू, अकेला रहू। सब लेपोंसे अलग रहू तो इसको फिर कौनसा क्लेश है? जन्म मरणका क्लेश तो इस अकेलेको है नहीं, जो मेरा स्वयं सहज स्वरूप है उस स्वरूपमें जन्म और मरणका क्लेश है। जहाँ जन्म न हो, शरीर न मिले वहाँ सारे क्लेश दूर हो गए। इष्टवियोग अनिष्ट संयोग सारे वियोग, लोगोंके द्वारा सन्मान अपमान आदिक जितनी विडम्बनाएँ हैं वे एक भी नहीं रहती हैं। तब समझ लीजिए कि मैं केवल जो हू वही रहू उसमें कितना आनन्द बसा हुआ है? दुःखका नाम नहीं है, अनन्त आनन्द है। मैं हू नहीं ऐसा। पर स्वरूप अवश्य ऐसा है। जो सिद्ध भगवान जिस प्रकार विराजमान हैं उनकी जो स्थिति है वह स्थिति नहीं है हम आपकी, किन्तु स्वरूप वही है। यदि वह स्वरूप न होता तो हम कभी भी उस उत्कृष्ट आनन्दको न पा सकते और जहाँ वह आनन्द न मिल सके वह निर्दोष अवस्था न मिल सके, फिर धर्म किसलिए किया जाय? धर्म और सब यह मोक्षपद्धति सबका विनाश हो जायगा। हममें वह स्वरूप है जो सिद्धका है। उस स्वरूपको प्रकट करनेके लिए हमारा मौलिक यत्न यह होना चाहिए।

आत्माकी अमौलिकता—हम अपना स्वरूप समस्त परपदार्थोंसे भिन्न निरखा करें, मैं देहसे भी न्यारा हू, औरकी तो बात क्या कहें समस्त वैभव से तो न्यारा हू ही, देहसे भी न्यारा हू ही, पर मुझमें जो रागद्वेष पक्ष तर्क वितर्क कल्पनाएँ जगती हैं उन तर्कवितर्कोंसे भी न्यारा हू। ऐसा सबसे न्यारा अपने आपको निरखे तो सबसे न्यारा हो सकता है। मोक्षके मायने और क्या हैं? मेरे आत्माके सिवाय अन्य जिन पदार्थोंका विकारोंका सम्बन्ध और लेप लगा हुआ है वे सबके सब परपदार्थ और परभाव मुझसे जुदे हो जायें ऐसी हमारी परिस्थिति बने उस ही का नाम मोक्ष है। तो हम सबसे न्यारा तो रहना चाहते हैं और न्यारेकी भावना न बनाएँ तो न्यारा होनेकी स्थिति पा कैसे सकते हैं। यहाँ माना तो यों करें कि देह मैं हू यह मेरा प्रिय देह है। मेरे घरके लोग बड़े विनयशील हैं, आज्ञाकारी हैं, ये मेरे ही तो हैं, इनसे मेरा बड़ा महत्त्व है इस प्रकार पदार्थोंमें व्यामोह करें और धर्मके नामपर थोड़ा मदिरमें आकर या कहीं भी अन्य धर्म कार्य करके मोक्षकी आशा रखें तो यह तो बिलकुल विपरीत बात है। मोक्ष चाहिए हो तो अन्तरङ्गमें अन्तःपुरुषार्थ करना होगा। वह पुरुषार्थ है भेद विज्ञान जितने भी जीव ससारसे छूटकर सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञानके बल से ही हुए हैं। और जो आज तक रुलते रहे हैं वे भेदविज्ञानके अभावसे रुलते रहे हैं। तो इस एक उत्कृष्ट अतीन्द्रिय आनन्द पानेके लिए हमारा मौलिक यत्न यह होना चाहिए कि हम जगतके वैभवसे। शरीरसे, तक

दुनियामें कुछ भी नहीं है। समस्त परपदार्थोंसे मैं विविक्त हूं। ऐसा अपने आपमें अपने सहज स्वरूपका प्रत्यय है ज्ञानीको तब ज्ञानीकी रुचि भी तो धर्ममें हुई। इसकी श्रद्धा भी निज धर्ममें हुई तो यत्न भी निज धर्ममें होता है। अपने आपके शुद्ध स्वरूपका विश्वास हो। शुद्ध स्वरूपका ज्ञान हो, और उस शुद्ध स्वरूपका ही आचरण हो, यही रत्नत्रय है, यही धर्म है। यही अपने आपकी सच्ची दया है। जिसके प्रतापसे आत्मा संसारके समस्त संकटोंसे छूट जाय और उत्कृष्ट अतीन्द्रिय आनन्दका अनुभव करे ऐसा कार्य करनेसे बढकर और क्या दयाका काम हो सकता है? इसलिए दया ही धर्म है यों कहो, १० लक्षण धर्म है यों कहो, रत्नत्रय धर्म है यों कहो। सबका भाव यही है कि यह आत्मा अपने स्वरूपका श्रद्धान करे अपना ज्ञान करे और अपने आचरणमें ही रम जाय, बस यही धर्मका पालन है। जो पुरुष इस धर्मका आश्रय लेता है वह पुरुष नरक जैसे महान् अंधकूपमें नहीं गिरता है, नरकमें नहीं गिरता। इससे यह भी उपलक्षण अर्थ लेना कि अन्य भी कुयोनियोंमें वह पतित नहीं होता है और सीधी सी बात यह है कि जिसके पास धर्म है वह देव होगा, मनुष्य होगा। मोक्ष जानेसे पहिले इन ही अच्छी गतियोंमें उसका जन्म होगा और बहुत ही शीघ्र इन जन्मोंसे निवृत्त होकर मुक्तिके आनन्द को प्राप्त करेगा। अपने कर्मोंसे। विकारोंसे और शरीरसे सदाके लिए छूट कर यह अपने आपके स्वरूपमें बसे हुए अतीन्द्रिय आनन्दका भोग करेगा। तो दुर्गतियोंसे निकलकर उत्कृष्ट पदमें पहुंच जाना यह सब धर्मका ही प्रसाद है। धर्मके प्रसादसे हम सब संकटोंसे दूर होते हैं और समस्त सम्पन्नतावोंको प्राप्त करते हैं।

महातिशयसम्पूर्णं कल्याणोद्दामममन्दिरम्।
धर्मो ददाति निर्विघ्नं श्रीमत्सर्वज्ञवैभवम् ॥२१२॥

धर्मका अलौकिक फल—धर्म अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग लक्ष्मीसे सम्पन्न अरहंत सर्वज्ञ देवके वैभवको भी प्रदान करता है अर्थात् धर्मके प्रसादसे चार घातिया कर्मोंका अभाव होता है और परम वीतराग दशा और सर्वज्ञ स्थिति होती है, और इनकी इस वीतरागता और प्रभुताकी भक्तिसे प्रेरित होकर इन्द्र महान समवशरणकी रचना करता है और बहुत वैभवकी उसमें रचना हुआ करती है। यह वैभव बड़े-बड़े अतिशयोंसे परिपूर्ण है। जहां अरहंत विराजमान हों वहांसे चारों ओर सौ सौ योजन तक दुर्भिक्ष तक भी नहीं पड़ता यह कितना अलौकिक अतिशय है? जहां प्रभु विराजे हों जो तीन लोकके नायक प्रभु अत्यन्त शुद्ध परमात्मा जहां विराजमान हों वहांके निकटके सब लोग अन्नके अभावसे अथवा अन्य रोग मारी आदिकसे दुःखी

ज्ञान दर्शन मात्र हूं, अमूर्त हूं और ये देहादिक पदार्थ अचेतन हैं, जड़ हैं, पौद्‌गलिक हैं, रूप, रस, गंध स्पर्श हैं, अमूर्तिक हैं। इनकी हमारी जाति मिलती ही नहीं है। अत्यन्त विमुख हैं। पुद्‌गल, पुद्‌गलकी जाति तो मिल गयी पर मेरी जाति तो पुद्‌गलसे बिल्कुल विलक्षण है उनसे मैं मिलता नहीं। और अन्य जीवोंके स्वरूपसे तो मिल गया पर व्यक्तिसह किसी भी जीवमें मिल सकता नहीं। ऐसा मैं अन्य समस्त जीवोंसे न्यारा समस्त पुद्‌गलोंसे न्यारा केवल ज्ञानदर्शनस्वरूप अविदित अमर एक ज्योतिपुञ्ज हू इसका ऐसा स्वभाव है कि अपने स्वभाव रूप प्रवर्ते तो इसके आकुलता रह नहीं सकती। तो मेरा स्वरूप ज्ञानानन्द है। एक नमस्कार मंत्र बोलते हैं ना—चिदानन्दाय नमः। सच्चिदानन्दाय नम। इसमें आत्माके स्वरूपका ही वर्णन है। यह मैं आत्मा चैतन्य और आनन्दस्वरूप हूं। चैतन्य शब्द कहनेसे ज्ञान और दर्शन दोनों आ जाते हैं। मैं चैतन्यस्वरूप हू और आनन्दस्वरूप हू। सच्चिदानन्द कहनेसे अनन्त चतुष्टयकी बात आती है। मैं ज्ञान, आनन्द और शक्ति स्वरूप हूं, ऐसे स्वरूपकी ही दृष्टि की गई है इस मंत्र में। तो जो पुरुष ऐसे सच्चिदानन्द स्वरूप निज पवित्र स्वभावका ध्यान करता है उसके विषयकषायोंमें प्रवृत्ति नहीं है, और विषय कषायोंमें प्रवृत्ति न होनेसे यह जीव नरक आदिक कुगतियोंमें नहीं पैदा हो सकता है। धर्मका अतुल प्रताप है। हम आप सब जितने भी शुद्ध रह सकते हैं, जितना भी आनन्द पा सकते हैं वह सब सबसे न्यारा बनकर केवल एक शुद्ध स्वभावकी ओर झुकनेसे पा सकते हैं। यही धर्म है अर्थात् आनन्द पानेका एक उपाय मात्र धर्म ही है।

धर्मकी महत्ता—यही शरण है, यही हमें कुगतियोंसे हस्तालम्बन देकर बचाता है ऐसी इस धर्ममें सामर्थ्य है। यह बारह भावनाओंमें उस धर्मभावनाका प्रकरण है। इसमें धर्मके जितने गुण गायेंगे, जितना धर्मके प्रतापका चिन्तन करेंगे उतनी धर्ममें रुचि जगेगी और धर्ममें रुचि जगनेसे उस धर्ममें ही हमारा यत्न होगा और धर्मसे ही हम सारे संकटोंसे दूर हो जायेंगे। जिसकी जहा रुचि होती है उसकी श्रद्धा भी वहां होती है। उसका प्रयत्न भी वहा होता है। अज्ञानी जीवके अधर्मभावमे रुचि है। वह विषय भावोंको, कषाय भावोंको, विकारोंको चाहता है तो उसीमें उसकी श्रद्धा है। राग करनेसे ही आनन्द मिलता है। द्वेष मोह करनेसे ही सुख मिलता है ऐसी ही श्रद्धा अज्ञानीके बनती है, तो जब श्रद्धा भी अधर्मकी है और ज्ञान भी अधर्मका ही पकड़ता है तो वह यत्न किसका करेगा? वह तो अधर्मका ही यत्न करेगा, किन्तु ज्ञानी जीवको अपने बारेमें धर्ममय स्वरूपकी श्रद्धा है, मैं केवल ज्योतिर्मय हू। ज्ञानानन्दस्वरूप हू। इस मुझ आत्माका

अपना काम करके भाषण देकर सकुशल चले जायें। कहीं कोई उपद्रव न हो, कोई गुण्डा इन्हें गोलीसे मार न दे। अनेक आशकाएँ रहती हैं, इसी कारण पुलिसकी बड़ी व्यवस्थाएँ रहती हैं। कोई उपद्रव न कर सके। लेकिन सर्वज्ञदेवके निकट उपसर्ग और उपसर्गकी शंका है ही नहीं। कोई कर ही नहीं सकता। यह वैभव भी उन्हें मिला जो अतिशयसे परिपूर्ण है। कैसा है सर्वज्ञदेवका वैभव ? कुछ अधिक ८ वर्ष कम एक कोट पूर्व तक अरहंत अवस्थामें सशरीर अवस्थामें बने रहे और इतने लम्बे समय तक उनके न आहार, न कवलाहार, न भूख न प्यास, न वेदना न कोई क्षोभ कुछ भी उपद्रव नहीं होते। यह क्या कम अतिशयका वैभव है ? इस वैभव को कौन प्रदान करता है ? धर्म ही प्रदान करता है।

धर्ममें सुखकी कारणता—तो ऐसे ऐसे महान् अतिशयोंसे परिपूर्ण सर्वज्ञदेवकी विभूतिको तीर्थंकरकी पदवीको प्रदान करने वाला धर्म ही है। यह धर्म समस्त कल्याणका उत्कृष्ट निवास स्थान है। धर्म नाम है रागद्वेष मोहसे रहित शुद्ध जाननहार परिणमन होना। जिस भव्य आत्माका ऐसा ज्ञातादृष्टा रहनेका परिणमन हो जहाँ संकल्प विकल्प तरंगें नामको भी न हों, ऐसी उत्कृष्ट स्थितिमें ऐसा प्रताप है कि आत्माके समस्त गुण परम सीमामें विकासको प्राप्त हो जायें। धर्मभावनामें धर्म माहात्म्यकी भावना की गई है। हमारा शरण केवल हमारा धर्म ही है। यह शरण हुए बिना इस ओर दृढ़तापूर्वक अपना प्रयोग हुए बिना व्यवसाय हुए बिना जगतमें कहीं भी भटककर देख लो किसी भी साधनमें इसे शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। जब कभी भी शान्ति होगी तो अपने आपमें अपने आपकी दृष्टि होनेसे ही होगी, उपयोग किसी बाहरकी ओर जाय। किसी परवस्तुको अपने विषयमें ले तो उसकी तो प्रकृति ही ऐसी है कि आकुलताको उत्पन्न करता है।

आत्माकी सबसे निरपेक्षता—यह आत्मा स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप है। किसी अन्यकी कोई अपेक्षा ही नहीं है। बल्कि अन्यकी अपेक्षा रखनेसे इस के आनन्दमें विघात होता है। प्रयोग करके अनुभव करनेकी बात है। केवल श्रवणसे, केवल कथनसे चर्चासे इसका विशद परिचय नहीं होता। इसका विशद परिचय अनुभवसे ही होता है। अपने चित्तको, अपने ज्ञानको इस प्रकारसे परिणमाया जाय कि यह विश्रामको प्राप्त हो, इसमें रागद्वेषका झंझट न आ सके तो इस पुरुषार्थमें यह अनुभव होता है कि शान्तिका धाम यही परिणमन है। धर्म ही शान्तिका एकमात्र स्थान है। यह तो सर्व कल्याणका मंदिर बना हुआ है। हमारे सर्व संकटोंका निवारण होना एक मात्र आत्म धर्मके पालनसे सम्भव है, अन्य कोई उपाय नहीं है। लोग

रहें यह नहीं हो पाता है। प्रभु यह कुछ करते नहीं हैं किन्तु उनके परिणामोंका अतिशय ही ऐसा है कि चारों ओर सौ सौ योजन तो सुभिक्ष रहता है। प्रभु अरहंत संयोगकेवली अवस्थामें हैं और जब वे विहार करते हैं तो उनका आकाशमें ही गमन होता है और विहारके समय देवता जो विहार में नियुक्त होते हैं, प्रभुके चरण कमलोंके नीचे स्वर्णकमल रचते हैं और एक दो ही नहीं किन्तु चारों ओर अनेक स्वर्णकमल रच देते हैं। यह एक सर्व साधारण जनोंमें अतिशय पाया जाता है। इतना बड़ा अतिशय जहां हो रहा है वह किसका प्रताप है? धर्मका प्रताप है। जिसके ये सब चमत्कार प्रकट होते हैं।

धर्मीकी निर्वांच्छकता—वह तो इन चमत्कारोंको चाहता नहीं और जो लोग ऐसी प्रभुताके चमत्कारोंको सुनकर उन चमत्कारोंमें इच्छा रखते हैं उनके ये चमत्कार नहीं होते हैं। तो इसका निष्कर्ष यह निकला कि कुछ चाहो मत। जो चाहेगा उसे नहीं मिलता, जो नहीं चाहता है उसके निकट लक्ष्मी दासी बनकर आती है। पर अब आनेसे क्या लाभ? जब चाह थी तब वैभव नहीं मिला, जब नहीं चाह है तो वैभव चरणोंमें आकर गिरता है। तो इसका अर्थ यही हुआ कि ससार पूरा असार है।

अरहन्त गंधकुटीकी सातिशयता—जब किसी ग्रोमाममें कोई महापुरुष आता है तो बड़ा मंडप सजाया जाता है। भाषण सुननेके लिए बड़ी तैयारियां होती हैं। सब कुछ तैयारियां होती हैं। सब कुछ तैयारियां होनेके बावजूद भी बड़े लाउडस्पीकर लग जायें, सब तरहके प्रबंध हो जायें, पर एक कमी हर जगह रहती ही है। सामने सब लोग बैठे हों तो वक्ताका मुह दिखेगा। पर लोग तो अगल बगल भी बैठा करते हैं, और बहुत बड़ी सभा हो तो पीछे भी लोग बैठा करते हैं, पर वक्ताका मुख सबको नहीं दिख सकता। यह एक बहुत बड़ी कमी रहती है। बहुत-बहुत ऊँची व्यवस्थायें करनेके बाद भी लोग वीतराग सर्वज्ञदेवके समवशरणमें गंधकुटीमें अथवा दिव्य उपदेशकी व्यवस्थाओंमें यह कमी नहीं रह पाती। प्रभुका मुख चारों ओर बैठने वालोंको दिखता है। यह अतिशय क्या एक सर्व साधारण में पाया जाता है? बड़े बड़े अतिशयोंसे सम्पूर्ण सर्वज्ञ देवके वैभवको यह धर्म ही तो देता है? कोई तीर्थंकर होता है उस भवमें कोई हाथ पैससे कमायी करके या कोई बड़ा ऊँचा रोजगार ठानकर या कोई ऊँची फैक्टरी लगाकर बड़ा बना हो और समवशरणकी रचना बनाया हो यह सम्भव है क्या? ज्यों-ज्यों वे परसे विरक्त होते गए, अपने आपकी ओर ही झुकाव बढ़ता गया, ये सर्व अतिशय उनके प्रकट होते गए। कोई महापुरुष जब आता है तो प्रबंधकोंको यह खतरा रहता है कि यह आये हैं भली प्रकारसे

कुछ हमें ख्याल है, कैसा आराम है, कैसा वैभव है, कैसा यह मन चलता है ? मरण हो जाने पर तो एकदम बदल होगी। वह बदल क्या होगी ? अत्यन्त विचित्र और विभिन्न बदल हो सकती है। औरकी तो बात क्या मनुष्य पर्यायके बाद स्थावर पर्याय भी बन सकती है तब कितनी बड़ी बदल हुई ? एक जीवनमें कुछ भी बदल हो जाय, आज धनी हैं, कल नहीं है धन तो लोग कहते हैं कि यह तो बिलकुल बदल गया। बिलकुल कहाँ बदला ? बदलना तो यह है कि अभी मनुष्य भव है और मरकर हो गए कीड़ा मकौड़ा, पशु पक्षी तो इस बदलको देखो कितनी विचित्र बदल हो जाती है ? और ऐसी बदल होनेका समय कोई दूर नहीं है। मरण होनेका समय कोई दूर नहीं है। कोई १० वर्षमें, कोई ५ वर्षमें, कोई २० वर्षमें कोई २-१ दिनमें किसी भी समय मरण हो सकता है। मरणके बाद यह जीव जहाँ जायगा वहाँ भी नया समागम, नये संकल्प, नई धारणायें, सब वहाँ नया है। यहाँका ख्याल ही क्या करेगा ? तो जब अति निकटमें हमारी बिलकुल बदल होने वाली संकल्प विकल्पको बढ़ाकर अपने प्रभुको क्यों हैरान किया जा रहा है ? ये सब कुछ ठाठ समागम परलोकमें इस प्राणीके साथ नहीं जाते किन्तु धर्म परलोकमें भी इस प्राणीके साथ जाता है।

धर्मका परमोकारित्व—ये परिजन जिनके लिए अनेक पाप भी किए जाते हैं, जिनको विषय बनाकर मोह राग पुष्ट किया जाता है, लोकमें क्या ये रक्षा करने आयेंगे ? परलोककी बात जाने दो, इस ही भवमें ये लोग कुछ रक्षा नहीं कर सकते। जब कभी परिजनोंके निमित्तसे रक्षा भी हो जाती है तो उस रक्षाका भी कारण धर्म है, न कि वे लोग। धर्म है तो अनेक लोग इसकी रक्षा करने के निमित्त बन जायेंगे। लोकमें कहावत है कि खुदके पास वैभव हो तो बीसों पूछते हैं और खुद रीते हैं, वैभवहीन हैं, पुण्यहीन हैं तो कोई पूछने वाला नहीं होता, तो वहाँ भी जो पूछ हुई है वह कहीं दूसरेने नहीं पूछ की, किन्तु खुदके पुण्य ने, खुदके धर्मने पूछ की। जो भी इस लोकमें सुख साधन बनते हैं वह धर्मका प्रताप है, दूसरेका कुछ ऐहसान नहीं। यह सब अपनी ही करनीका फल है। तो धर्म परलोकमें साथ जाता है और वहाँ यह धर्म इसकी रक्षा करता है। और रक्षा भी एक सांसारिक ढंगसे नहीं, विषयोंके साधन जुटा दे, इस रूपसे नहीं, ये भी साथ अपनी सीमामें चलते हैं किन्तु देखिये तो धर्म कैसा इसकी रक्षा करता है। यह धर्म प्राणियोंका हित करता है। संसारके सर्वसंकटोंसे छुटाकर, विषय कषायों के कीचड़ोंसे निकालकर इसे मोक्षमार्गमें भी उत्पन्न कर देता है। इतनी बातोंमे से परिजन अथवा मित्र जन जिनसे बहुत बड़ा स्नेह है कोई कर सकते हैं क्या ? अर्थात् यहाका

शान्तिके लिए धन जोड़ते हैं, जोड़ते जाये पर आखिर होगा क्या? छूटेगा एक साथ सब। मिलता क्या है इसमें? जोड़ते गए जोड़ते गए पर अन्तमें मिला क्या इस आत्माको? व्यर्थका ही वह सब श्रम रहा। जीवनभर उसके पीछे अड़े, उसमें फसे और अन्तमें मिला कुछ नहीं। किन्तु धर्मके लिए लगन हो, यथार्थ ज्ञान रखना, भेदविज्ञान करना, अनात्मतत्त्वको छोड़ना अपने स्वरूपमें आना, ऐसा यत्न रहे तो उसके प्रसादसे जो लाभ प्राप्त होगा वह स्वयं समझेगा, स्वयं अनुभवेगा कि हमने यह कुछ तत्त्व पाया है।

धर्मकी बाह्याडम्बरतासे रिक्तता—यह धर्म दिखावट, बनावट, सजावटसे अत्यन्त दूर है। जिसकी यह भावना अथवा वासना हो कि लोगोंको बताऊँ कि मैं कितना ऊँचा हू, कितना धर्मपालन करता हू अथवा पर्याय बुद्धि बने। अपने विचार, अपनी तर्कणायें, अपना राग, अपनी कषाय अपनेको प्रिय लगें और यही मैं हू और उसके ही पोषणका यत्न रखें तो इस दिखावट बनावट और सजावटकी परिस्थितिमें धर्म नहीं होता। धर्म होता है गुप्त ही गुप्त, अपने आपमें अपने आपका नाता रखकर। अपने स्वरूपमें रुचि करे, उसका ही परिज्ञान करे उसमें ही मग्न हो ऐसी ही अपनी गुप्त वृत्तिमें धर्म प्रकट होता है। यों कह लीजिए एक शब्दमें कि सर्व स्व त्यागने पर अथवा अपने आपको अपने आपमें मग्न होनेके लिए समर्पण कर देने पर धर्मकी महिमा अनुभवमें आती है। यह धर्मभावना अतिशयोंसे परिपूर्ण कल्याणका एकमात्र स्थान अतरंग और बहिरङ्ग लक्ष्मीसे सम्पन्न श्रीमान् सर्वज्ञदेवके वैभवको प्रदान करता है। धर्मके करते हुए कुछ छुटपुट विभूति मिल जाय, राज्य मिल जाय, धन वैभव मिल जाय तो यह सब तो न कुछ चीज है। जैसे कोई किसान खेती करता है तो उसका लक्ष्य तो अनाज उत्पन्न करना है, भुस स्वयमेव मिलता है। ऐसे ही धर्मके यत्न में उत्कृष्ट आनन्द मिलता है पर अन्य छुटपुट विभूति स्वयमेव प्राप्त होती हैं।

याति सार्द्धं तथा पाति करोति नियतं हितम्।
जन्मपङ्कात्समुद्धृत्य स्थापयत्यमले पथि ॥२१३॥

धर्ममें मुक्तिका नेतृत्व—मोही जीवको जिन पौद्गलिक पिण्डोंमें रुचि है वह कुछ भी इस जीवके साथ परलोकमें नहीं जाता। मकान वैभव परिजन औरकी तो बात क्या, यह देह तक भी साथ नहीं जाता। जिसके पोषणके लिए जिसके श्रृङ्गारके लिए जिसको आत्मा मानकर आत्मबुद्धि करके सन्मान और अपमानके लिए माना जाता है ऐसा यह देह भी परलोकमें इस प्राणीके साथ नहीं जाता किन्तु धर्म यह अवश्य साथ जाता है, और परलोकमें भी यह धर्म मेरी रक्षा करता है। आज हम मनुष्य हैं और सब

भले ही किसी भेददृष्टिमें कम अधिक विकास हो, किसीका कम विकास है, किसीका अधिक है। जैसे भेददृष्टिमें कहा जाता है ना कि श्रद्धा गुणका विकास पहिले पूर्ण होता है, ज्ञानका विकास इसके पश्चात् पूर्ण होता है और चरित्रका विकास इसके पश्चात् पूर्ण होता है, लेकिन तीनोंका विकास एक साथ अभ्युदित होता है। जिस ही कालमें दर्शन मोहनीका, अनन्तानुबंधीका विनाश होता है उस ही कालमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनोंका विकास होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी तो है बहुत प्रसिद्धि है, किन्तु सम्यक्चारित्रके सम्बंधमें कुछ लोग ऐसा ख्याल रखते हैं कि सम्यक्त्व प्रकट होनेके बाद जब वह पंचम या सप्तम गुणस्थानमें जाय तबसे चारित्र प्रवृत्त होता है लेकिन जो चारित्र योगका सम्बंध रखता है, योगनिवृत्तिका सम्बंध रखता है वह चारित्रप्रवृत्ति निवृत्तात्मक है।

चारित्र ही धर्मका मूल—चारित्रका मूल स्वरूपाचरण है और चारित्रकी परिपूर्णता भी स्वरूपाचरण है। अणुव्रत और महाव्रतमें प्रवृत्तियोंकी विशेषता है और वे प्रवृत्तियां स्वरूपचरणमें विकास बने, उसके विकासमें बाधायें न आयें इसके लिए है। चारित्र तो एक ही प्रकारका होता है। जो आत्मस्वरूप है उस स्वरूपमें मग्न होना, उस रूप आचरण होना, परिणाम होना इसका नाम है चारित्र। अब इस स्वरूपाचरणका विकास हो और विकास होकर परमात्म अवस्थामें स्वरूपाचरणकी परिपूर्णता होना, यही तो क्रम है। किन्तु सम्यक्त्व जगनेके साथ ही स्वरूपाचरण भी हो जाता है। तो धर्ममें ऐसा प्रताप है कि वह समस्त अभ्युदयोंका साधक है। लौकिक दृष्टिसे जो इन्द्रादिक अथवा महापुरुष आदिक जितने भी पद हैं, इनकी विभूतियां हैं। इन अभ्युदयोंका साधक भी धर्म है। वस्तुत धर्मके साथ जो अन्तरङ्गकी मति लग रही है वह अनुराग इन सम्पदाओंका कारण है। धर्म तो एक स्वच्छताका ही कारण है। तो इस जगतमें धर्मके समान अन्य कुछ भी समस्त प्रकारके अभ्युदयोंका साधक नहीं है।

श्रेयका मूल चारित्र—यह धर्म ही मनचाही सम्पदाको देने वाला है। किस तरह? धर्म नाम उसका है जहाँ चाह नहीं रहती। जहाँ चाह नहीं रही वहाँ मनचाही चीज मिल गयी। सब मिल गया। वहाँ यह भेद नहीं रहता कि यह मिला है, यह नहीं मिला है। जहाँ चाह नहीं रही कि मन चाहा ही सब मिल गया। और यह धर्म आनन्दरूपी वृक्षका कंद है। जैसे वृक्ष कंदसे अंकुर उत्पन्न होता है इसी प्रकार इस धर्मकन्दसे आनन्द उत्पन्न होता है। वहां धर्म नहीं है जहां परिणाम कष्ट रूप अनुभव कर रहा हो। किसी तपस्यामें, किसी धार्मिक समारोह प्रवृत्तिके प्रसंगमें कुछ क्लेशरूप परिण-

कोई भी समागम न परलोकमें साथ जाता है और न इस जीवकी रक्षा करता है, न इसका हित करता है और न इसे विषयोंसे निकालकर निरापद स्थानमें पहुंचा सकता है। सब बातोंके करनेमें समर्थ यह धर्म है।

धर्मका अन्त निवास— धर्म कहीं बाहर नहीं है। कहीं पैसोंसे खरीदकर मिल जाय अथवा अपने देहका बल दिखानेसे मिल जाय अथवा किसी प्रकारकी कोई कूटनितिसे मिल जाय ऐसा नहीं है। धर्म आत्माका स्वभाव है, आत्माका परिणमन है और यह एक निरपेक्ष स्वाधीन रूपके स्वभाव रूप है। वह कहीं मन, वचन, कायके प्रयत्नोंसे न मिलेगा किन्तु इन सब योगोंको, कषायोंको, श्रमोंको परित्याग करके एक परमविश्रामकी स्थिति बनाये तो मिलेगा। यह प्रयत्न मोही जीवोंको बड़ा कठिन लगता है, किन्तु अपने आपके कल्याणका साधन करनेका यत्न तो स्थायी है, सुगम है, दृष्टि फिरनेकी बात भर है। अपने अपने आपकी दृष्टि नहीं बनी है तो अत्यन्त दूर है। जैसे कागज बराबर पहला पर्दा आगे हो, उस पर्देके पीछे कुछ भी वस्तु हो, वह तो इससे अत्यन्त परे है। इसी प्रकार आत्मदृष्टि यदि नहीं है तो मेरे ही निकट क्या, मैं ही तो आत्मा हूं, पर मेरा ही स्वभाव मेरा ही धर्म, मेरी ही शान्ति मुझसे दुर्लभ हो जाती है केवल एक अपने आपकी दृष्टि न होनेसे। अपने आप आपकी दृष्टि हो, अपने आप का परिज्ञान हो और अपने आपमें रमण करनेका पुरुषार्थ हो, यही रत्नत्रयका रूप है, यही धर्मका रूप है। इस ही में १० लक्षण धर्म समाया हुआ है, यही उत्कृष्ट अपने आपकी दया है, ऐसा अपने धर्मका परिपालन हो तो संसारके संकटोंसे हम सदाके लिए मुक्त हो सकते हैं। यह सब अपना काम है, और बिना किसी दिखावटके गुप्त होकर अपने आपके कल्याण की भावनासे अपनेको अपने ही अन्तरङ्गमें करना है। धर्म ही वास्तवमें हम आपका शरण है। हम अनेक प्रयत्न करके अपने विशद ज्ञानद्वारा जब इस धर्मको प्राप्त करें यही एकमात्र शान्तिका और एक अभ्युदय शब्द— उपाय है। अन्य कोई भी शान्तिका उपाय नहीं है।

न धर्मसदृशः कश्चित्सर्वाभ्युदय साधकः।
आनन्दकुजकन्दश्च हितः पूज्यः शिवप्रदः ॥२१४॥

धर्मका सर्वसाधकत्व—इस जगतमें धर्मके समान अन्य कुछ भी वस्तु सर्व प्रकारके अभ्युदयका साधक नहीं है। उदय शब्द इन दोनोंके अर्थमें अन्तर है। उदयका अर्थ है निकलना, विकास होना और अभ्युदयका अर्थ है सब ओर फैलाव होना। अभि उपसर्ग है जिसका अर्थ है सर्व ओरसे, उदय मायने विकास होना। तो धर्ममें ऐसा प्रताप है कि जिस आत्मामें धर्मका विकास है उस आत्मामें समस्त गुणोंका युगपत् विकास होता है।

धर्म प्रकट होता है। धर्मका मूल स्वरूप इतना मात्र है, ऐसी धर्मकी हमारी दृष्टि बने और अन्य बातें कहने व सिखानेकी तो जरूरत है ही नहीं।

मंगल कौन—जिसकी धर्मदृष्टि बनी है वह उस धर्म परिणमनका अनुभव करनेके पश्चात् यदि कदाचित् विकल्प उठे तो वह यह निर्णय रखता है कि धर्म ही मंगल है, धर्म ही लोकोत्तम है और धर्म ही शरण है। चत्तारिदण्डकमें ४ चीजोंको मंगल कहा, लोकोत्तम कहा और शरण कहा। उसमें ४ बातें ये धर्म ही बतायी गई हैं और इससे पहिले जो ३ शरण बताये गए हैं वे व्यवहार शरण हैं। वे हमारी प्राक् पदवीमें आलम्बनरूप हैं और जब जब हम इस धर्मकी शरणमें स्थिर नहीं हो पाते हैं तब तब धर्मका विकास जो कर रहे हैं उनके शरणकी भावना रखी जाती है, उनके गुणोंका स्मरण किया जाता है, वे तीन हैं अरहंत सिद्ध और साधु। साधुमें आचार्य, उपाध्याय और मुनि गर्भित हैं तो यों पंच परमेष्ठी ही शरण हैं यों कह लीजिए या अरहंत, सिद्ध, साधु शरण हैं। साधु तो इस धर्मके विकासमें लग रहे हैं बढ़ रहे हैं और अरहंत गुणोंके क्षेत्रमें पूर्ण विकसित हैं और साधु सर्व प्रकारसे अर्थात् प्रदेशोंकी दृष्टिसे भी पूर्ण अनाकुल हैं। इस प्रकार धर्मका विकास करनहारे धर्मके पूर्ण विकासको प्राप्त कर चुकने वाले देव और गुरुका मंगल और लोकोत्तम और शरण भाया है। पर ज्ञानी का प्रयोजन उद्देश्य लक्ष्य एक धर्मका शरण लेनेका होता है। यह धर्म हित रूप है, पूज्य है और मुक्तिका देने वाला है। उस धर्मकी शरण गहनेका निरन्तर ध्यान रखना चाहिए।

व्यालानलोरगव्याघ्रद्विपशार्दूलराक्षसाः।
नृपादयोऽपि द्रुह्यन्ति न धर्माधिष्ठितात्मने ॥२१५॥

धर्मके सर्वत्र अबाधकत्व—जिसका आत्मा धर्मसे अधिष्ठित है अर्थात् जिसका आत्मा धर्ममय है, धर्मसे सयत है, धर्मरूप जिसका परिणमन है ऐसे आत्माके प्रति कोई भी अन्य पुरुष अन्य जीव द्रोह नहीं कर सकता है। जैसे सर्प विषधर है। उसमें ऐसा भयकर विष होता है कि डस लेने पर मनुष्य प्रायः मर जाता है। लेकिन विषको नष्ट करने वाली परम औषधि है तो वह धर्म है। शुद्ध स्वभावकी दृष्टि, शुद्धस्वभावका आलम्बन शुद्ध स्वभावमें मग्न होनेकी प्रवृत्ति। यह धर्म ऐसा प्रतापथ न है कि यह मंत्रमूर्ति बन जाता है। मंत्रोंका बांचना और मंत्रोंका उच्चारण ध्यान साधन एक यह मार्ग है और एक यह मार्ग है कि मंत्रका विकल्प ही न करे, किन्तु एक धर्मकी आराधनामें लगा हो, रागद्वेष मोहसे अपनेको दूर रखता हो, ऐसी पवित्रता जग रही हो तो यह पवित्रता तो साक्षात् मूर्ति है और ऐसे धर्माधिष्ठत आत्माके प्रति सर्प भी द्रोह नहीं करता,

मन चलता हो वह धर्म नहीं है। धर्म तो आनन्दको ही साथ लेकर रहता है। धर्मके साथ कष्टका कोई काम नहीं है। तो इस धर्म वृक्ष कदसे आनन्दके अंकुर उत्पन्न होते हैं। धर्म कंद है और आनन्द अकुर है, वृक्ष है, ये फल फूल हैं। इस प्रकार यह धर्म हितरूप है। पूजनीक है और मोक्षका देने वाला है। तीन विशेषण दिये हैं धर्म हितरूप है, पूज्य है और धर्मका देने वाला है। चूँकि यह धर्म हितरूप है इस ही कारण पूज्य है, जो हितकर हो वही पूज्य कहलाता है। पूज्यका प्रयोजन क्या ? कोई हमारा हित करता रहे और हम उसे पूजते रहें, क्या ऐसी कभी किसीकी प्रवृत्ति बनी है। जो हितकर हो, जिससे हित सिद्ध होता है बस वही हमारे लिए स्मरणीय है, पूजनीय है और उसका ही शरण लेकर उसका ही आदर्श मानकर हमें रहें। तो यह धर्म हितरूप है अतएव पूज्य है और मोक्षका देने वाला है, मोक्ष नाम है केवल रह जानेका। सबसे छुटकारा पाकर यह मैं आत्मा जैसा सहज ही हू वैसा ही केवल रह जाऊँ इस ही का नाम मोक्ष है। तो ऐसा कैवल्य मिलना अर्थात खालिस आत्माका रह जाना जिसके साथ किसी अणुका लेप नहीं है, केवल खालिस है— ऐसी स्थिति हो जाय इसका नाम मोक्ष है।

स्वभावदृष्टि ही मोक्षका मूल— इस मोक्षके उपायमें हमें कैवल्यकी दृष्टि बनानी होगी। मैं केवल हू। इस ससार अवस्थामें भी मैं केवल हू, अकेला हू, केवल अपने स्वरूपमात्र हू, यह भी मैं किसी दूसरी चीजसे मिल कर कोई कद नहीं बन गया, कोई एकमेक नहीं बन गया। इस मिलावटकी स्थितिमें भी जहा शरीर और कर्मोंका प्रसग लग रहा है वहा भी मैं केवल अकेला हू, ऐसा अपने आपको केवल निहारा जाय और यह निरख जैसी उतनी दृढता पकड़ता जाय बस वैसा ही हम धर्म विकासमें बढते जाते हैं और इस कैवल्यका जैसे जैसे विकास होता है बस वही गुणस्थानके ऊँचे चढ़नेकी बात है। जो जितना अपने इस कैवल्यको प्रकट करता है उसका उतना ही ऊँचा गुणस्थान है। और जहा यह कैवल्य गुणोंके क्षेत्रमें पूर्ण प्रकट हो जाता है उसे अरहत अवस्था कहते हैं और प्रदेशोंके क्षेत्रमें जहा कैवल्य पूर्ण प्रकट हो जाता है उसे अरहत अवस्था कहते हैं और प्रदेशोंके भीतरमें जहा कैवल्य पूर्ण प्रकट हो जाता है उसे सिद्ध अवस्था कहते हैं। ऐसा धर्म हमारा हमारे ही स्वभावके है, हमारे ही पास है। हम ही धर्मरूप हैं, केवल एक अपने आपको बाह्यमें न उलझाकर अपनी अपनी ओर दृष्टिभर देना है। मान लिया है कि यह मैं सहज स्वरूपमात्र हू। बस इस सहजस्वरूपकी दृष्टिसे इस सहज स्वरूप मात्र मैं हू, इस प्रकारका निरन्तर प्रत्यय रहनेसे और ऐसा ही उपयोग बना रहनेसे यह कैवल्य प्रकट होता है,

प्रेरित होता है? तो अपना चित्त दृढ़ हो अपने धर्ममें अपनी स्थिरता हो तो वहाँ ये राक्षस आदिक भी द्रोह नहीं कर सकते हैं। जो धर्मात्मा पुरुष होते हैं उनसे राजा आदिक भी द्रोह नहीं किया करते हैं। यों यह धर्म ही सर्व प्रकारके द्रोहोंको नष्ट करने वाला है। अथवा यों कह लीजिए कि ये ही सबके सब सर्प, अग्नि विष, व्याघ्र, हस्ती, सिंह, राक्षस, राजा आदिक धर्मात्मा पुरुषके रक्षक होते हैं। कोई घटना ऐसी होती है कि सर्प भी इस के रक्षक हो जाते हैं, अग्नि रक्षक हो जाती है। जो विष प्राण हर लेता है वह कभी-कभी खा लेनेसे अनेक रोग दूर हो जाते हैं। कई पुरुषों पर ऐसी घटनाएँ भी घटीं। धर्मके प्रतापके प्रसंगमें ये बातें इसलिए बराबर कहीं जा रही हैं कि धर्मका माहात्म्य जानकर लोग इस धर्ममें अपनी रुचि बढ़ायें।

निःशेषं धर्म सामर्थ्यं न सम्यग्वक्तुमीश्वरः।
स्फुरद्वक्त्रसहस्रेण भुजगेशोऽपि भूतले ॥२१६॥

धर्मकी उत्कृष्टता—धर्मका समस्त सामर्थ्य भली प्रकारसे कहनेमें हजारों मुखवाला भी कोई हो, नागेन्द्र भुजगेश वह भी समर्थ नहीं है। अर्थात् धर्मके सामर्थ्यको हजारों मुखवाला कोई हो वह भी नहीं बता सकता है। धर्मकी महिमाको फिर हम क्या बतायें? जिस धर्ममें जो आनन्द प्रकट होता है उस आनन्दकी उपमा देनेके लिए इस जगतमें कोई सा भी सुख नहीं है। फिर भी धर्मकी आराधनामें जो सुख प्राप्त होता है उस आनन्दको बतानेके लिए कुछ न कुछ उद्यम करना ही है। धर्मके प्रतापसे कितना आनन्द प्रकट होता है? यह समझानेके लिए यह बताया जाता है कि तीन लोकके समस्त जीवोंको जो जो भी आनन्द मिला हुआ हो, बड़े-बड़े इन्द्र महापुरुष सभी जीव जो सुखके विशिष्ट अधिकारी हैं उनको जितना भी सुख मिला हो और भूतकालमें इस अनादिसे समस्त कालमें जितने भी सुख भोग लिए हों और आगे अनन्तकाल तक जितने भी सुख भोग लिए हों, समस्त जीवोंके इस जगतके सुखको एकत्रित कर लो उस सुखसे भी कई गुणा आनन्द धर्मसे उत्पन्न होता है। इतना कहने भर भी धर्मकी आनन्दकी पूरी बात नहीं आ सकती।

धर्मका महत्त्व—ये जगतके समस्त सुख काल्पनिक हैं, आनन्द तो मायारूप नहीं है। वह तो आत्माका स्वभाववर्तन है। तो जैसे धर्मसे उत्पन्न हुए आनन्दको बतानेमें समर्थ न होने पर भी हम किसी भी प्रकार की उपमासे बताया करते हैं, ऐसे ही धर्मकी महिमाको हम नाना उपमाओं से बता तो रहे हैं किन्तु वास्तवमें धर्मकी महिमा हजारों मुखसे भी नहीं कही जा सकती है। जैसे धर्म से उत्पन्न हुआ आनन्द जगतके समस्त सुखोंकी जातिसे विलक्षण है और विलक्षण होनेके कारण उस सुखसे गुने

सर्प उस पर नहीं आक्रमण करता है और कदाचित् आक्रमण भी करे तो उसका आक्रमण विफल हो जाता है। भक्तामरस्तोत्रमें इन सब बातों पर बहुत विशेष स्तवन किया गया है। ऐसा धर्म करने वालेके विशेषतया पुण्यबंध चलता रहता है। जब तक राग भाव हैं और पुण्यका भी निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, तब तक धर्मका मुक्तिसे सम्बन्ध है और पुण्यका इन लौकिक चमत्कारोंसे सम्बन्ध है। जैसे सीता जी की अग्नि परीक्षा हुई थी। तब यह नियम तो नहीं बनाया जा सकता कि जो शीलवान पुरुष हों, शीलवती स्त्री हों उन्हें अग्निमें डाल दिया जाय, तो नियम से अग्नि पानी बन जाय, ऐसा तो नहीं है, लेकिन शीलवान पुरुषोंकी अन्तरवृत्तिसे ऐसा विशिष्ट पुण्यबध भी होता रहता है, तो उस पुण्यमें यह सामर्थ्य है कि उसके निमित्तसे अग्नि भी जल बन जाय ऐसा साधन बन जाय वह एक विशिष्ट चीज है। लेकिन ऐसा विशिष्ट पुण्यबध धर्मात्मा पुरुषोंके हुआ करता है इसलिए धर्मका फल कह दिया जाय। तो ऐसे धर्मोविष्ट आत्माके प्रति अग्नि भी शान्त हो जाती है, जलमय हो जाती है, जो होना है उन प्रसगोंमें और जो होना चाहिए वे सब साधन मिल जाते हैं और उनसे ये सब विपदायें शान्त हो जाया करती हैं।

धर्मके पुण्यका फल लोकोत्तरता—धर्मात्मा पुरुषोंके प्रति विष भी द्रोह नहीं करता। पूजाकी प्रस्तावनामें कहते हैं ना कि भूत प्रेत वैताल विष निर्विषताको प्राप्त हो जाते हैं। बडे-बडे क्रूर व्याघ्र, सिंह, हस्ती आदिक भी धर्मात्मा पुरुषके निकट शान्त बन जाते हैं। जैसे यहाँ कोई बडा क्रोध करके आया हुआ पुरुष किसी शान्त संतके निकट अपने क्रोधको बुझा लेता है तो एक उसने अपनेमें प्रभाव डाल लिया है। ऐसे ही ये क्रूर जानवर भी धर्मात्मा सन्तोषी शान्त पुरुषके निकट आकर उनकी मुद्राको निरखकर वे भी शान्त हो जाते हैं। राक्षस दैत्य व्यतर खोटे देव भी धर्मात्मा पुरुष के प्रति द्रोह नहीं करते हैं। वैसे भी अन्दाज कर लो जैसे कि आज कल कोई लोग भूत लगे दिखते हैं कोई क्षेत्र पर जाता है वहाँ भूत बोलने लगता है बकने लगता है, ऐसी स्थिति बनती है तो उनका दिल स्वय ठीक नहीं है और उन्होंने अपने दिलमें ऐसी कल्पना गढ़ डाली है कि उन कल्पनाओंका ही उनपर भूत है, अन्य कोई व्यंतर भूत नहीं है और चूँकि वे दूसरोंसे सुनते रहते हैं तो वैसी ही अपनी क्रिया करने लगते हैं। जिस का चित्त विशुद्ध है, हृदय धर्मसे ओतप्रोत है, ज्ञान जिसका निर्मल है, जिसके सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ है, धर्मकी जिसके अडिग श्रद्धा है, जिसने व्यवहारमें मत्र पचपरमेष्ठीको ही शरण माना है और परमार्थ शरण निजस्वभावकी जिसकी दृष्टि बनी रहती है ऐसा पुरुष भूत आदिकसे कहाँ

आखिर निष्कर्ष क्या निकला ?

स्वयकी मार्गणासे प्रभुस्वरूपमें अविसंवाद—भैया ! यदि स्वयके मार्गसे चलकर निर्णय करें तो निष्कर्ष निकले। किसी भी मजहबके लोग हों, उन से जब आप यह पूछें कि जो कोई भी ईश्वर होगा उसमें ऐब होते हैं क्या ? तो उनके ही मुखसे कहलवा लो दोष तो नहीं होते। कोई नहीं कह सकता है कि भगवानमें दोष होते हैं। तो यह अर्थ हुआ ना कि निर्दोष हुए जो निर्दोष हो सो भगवान है। फिर एक बात और पूछना कि भगवानमें ज्ञान गुण, आनन्द गुण ये पूरे होते हैं कि अधूरे होते हैं ? किसीसे भी पूछने जाओ सभी यही कहेंगे कि पूरे होते हैं। और जिनके दोष न हों वे भगवान हैं तो दोष जरा भी न हों उसका नाम है वीतराग, निर्दोष। जिसमें जरा भी राग नहीं हैं उसका नाम है वीतराग, क्योंकि सभी दोषोंका राजा है है राग। सारे ऐब रागसे उत्पन्न होते हैं। ईर्ष्या हो, झगड़े हों सारी बातें रागको उपजाती हैं। किसी चीजका राग है तो दूसरेसे झगड़ा भी करे। किसीसे राग है तो विवाद होगा, द्वेष करेगा। तो सब ऐबोंकी जड़ है राग। तो जिसमें दोष नहीं है उसका नाम है वीतराग। और जिसमें गुण पूरे विकासको प्राप्त हैं उसका नाम रख लो सर्वज्ञ, क्योंकि सब गुणोंका राजा है ज्ञान। जो ज्ञान सबको जाने अर्थात् पूरा हो तो उसका अर्थ है कि पूरे गुण वाला है तो यह अर्थ निकला कि जो सर्वज्ञ हो और वीतराग हो वह ईश्वर है। इसमें किसीको बुरा न लगेगा। जिस चाहे मजहब वाले से बात कर लो। वह वीतराग और सर्वज्ञकी बात सुनकर खुश ही होगा और इसमें अपना गौरव समझेगा, हमारा ईश्वर भी वीतराग है, सर्वज्ञ है। अब वीतरागता और सर्वज्ञताका स्वरूप भले प्रकारसे समझमें आ जाय तो उसके धर्मकी गुत्थी सब सुलझ जाय, पर ऐसा कौन है। जो भी ईश्वर मानते हैं। प्रायः करके उसकी कोई लीला बताते हैं, खेल बताते हैं गान, नृत्य बताते हैं पर उसका स्वरूप क्या है उसपर दृष्टि नहीं देते।

वस्तुस्वरूपकी परीक्षासे धर्मस्वरूपका निर्णय—धर्म धर्म ऐसा सभी लोग कहते हैं, पर वस्तुका यथार्थ स्वरूप जाने बिना सत्य परीक्षा कैसे होगी ? वस्तुस्वरूपकी परीक्षा हो तो धर्मकी बात समझ सकते हैं। अब स्वरूपका तो ज्ञान नहीं और धर्म धर्म चिल्लाते हैं तो उससे कहीं धर्मका प्रभाव नहीं बनता। वस्तु स्वरूपकी परीक्षा नय प्रमाणकी विधिवाले शास्त्रोंके द्वारा ही हो सकती है। आज है कलियुग। पापोंकी ओर, अंधकारकी ओर जानेका यह युग है। दृष्टि नहीं लोगोंकी इस ओर आती है, किन्तु वस्तुका स्वरूप, सत्ताका स्वरूप जिस प्रकार जिन आगममें बताया है उस पद्धतिसे कोई स्वरूपकी खोज करे तो उसे वस्तुका स्वरूप मिल सकता है। तो धर्म क्या

की बात नहीं लगायी जा सकती है। धर्मका आनन्द तो अनुपम है, जगत के समस्त सुखोंसे भी परे है। ऐसे ही धर्मकी महिमा बतानेके लिए कुछ वर्णन किया जाता है, लौकिक विभूतियां न आयें लौकिक समृद्धियां परिपूर्ण बनें, ये सब बातें कही जाती हैं किन्तु इन महिमाओंसे भी परे धर्मकी महिमा है। धर्मके प्रसादसे सदाके लिए संसारके सकटोंसे मुक्ति हो जाती है और स्वाधीन आत्मीय स्वाभाविक अनन्त आनन्दका भोक्ता रहा करता है। इस महिमाको बतानेमें समर्थ कोई भी वचन नहीं है। केवल इस प्रकारका धर्म परिणमन करके इस धर्मकी महिमाका अनुभव किया जा सकता है। पर कहा नहीं जा सकता है। जैसे किसी समुद्रका पानी सारा बिखर जानेसे समुद्रमे दिख रहे रत्नोंको कोई देख तो सकता है पर गिन नहीं सकता है। अथवा जमुना नदीके निकटमें जो रेत पड़ी रहती है उस के सारे कण आखो तो दिख रहे हैं पर उन्हें कोई गिन सकता है क्या ? ऐसे ही धर्मका आनन्द, धर्मकी महिमा, धर्मका अनुभव तो किया जा सकता है पर इसका वर्णन हजारों मुख वाला भी कोई हो तो वह भी करने में समर्थ नहीं है। ऐसे अनुपम प्रतापशील धर्मको जानकर हम आप सब इस धर्मकी ओर अपनी रुचि करें।

धर्मधर्मेति जल्पंति तत्त्वशून्या कुदृष्टयः।
वस्तुतत्त्व न बुध्यन्ते तत्परीक्षाक्षमा· यत ॥२१७॥

तत्त्वपरीक्षा बिना धर्म धर्मकी व्यर्थ जल्पना—सभी मनुष्य ऐसा कहते हैं कि धर्मसे सब सुख मिलते हैं, और अपनी कल्पनाओंके अनुसार किसी भी बातमे यह धर्म है, ऐसा मानकर धर्म धर्मकी धुन भी बनाये रहते है किन्तु धर्मके स्वरूपसे अपरिचित जीव वास्तवमें धर्मके स्वरूपको नहीं समझते। आज कितने मजहब हैं जिनकी भली प्रकार कथनी की जाय तो करीब ५० ६० सख्यामें बनेंगे। और सभी लोग अपनी-अपनी बात करते हैं और दूसरोंकी काट करते हैं सभीके सभी एक दूसरेकी काट कर दें फिर बतलाओ कि धर्म क्या है? किसे मानें हम धर्म। तो धर्म धर्म ऐसा सभी लोग कहते है। यहां भी धर्मकी बात यह है, पर इतने मर्मको न जाननेसे अन्य-अन्य बातोंमें उलझ गए हैं। तत्त्वकी बात होती है कुछ और फिर रुढ़ि चल चल कर बात बन जाती है कुछ। तो जो तत्त्वशून्य हैं, विपरीत जिनकी दृष्टि है वे यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते। कोई एक ही बात तो अब नहीं रही। कोई कहते हैं कि कृष्ण ईश्वर हैं, कोई कहते हैं राम हैं। हैं। कोई कहते हैं खुदा हैं, कोई कहते हैं ईसा हैं, कोई किन्हींको, कोई किन्हींको बताते हैं और बतानेके साथ ही साथ अपनी बातको तो सही कहते हैं और दूसरेकी बात खण्डन करते हैं। तब यह बतलावो कि

तो लखनऊशाही बोली बोलकर नम्रता बताना और एक दिलसे नम्र बनना, इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है। आजकलकी बोलीमें कुछ ऐसे उर्दू भरे शब्द हैं जिन्हें सुनकर लोग वाह वाह हो जाते हैं। यह तो बड़ा नम्र है, अपनेको बड़ा तुच्छ मानता है। पर नम्रता नहीं है, अपनी शान बतानेके लिए ये नम्रताके शब्द बोले गए हैं। नम्रता कब हो सकती है? जब हम दूसरे जीवको भी महान समझें तब नम्रता हो सकती है। दूसरा जीव भी महान है यह हम कब जान सकते हैं जब हमें जीवका स्वरूप मालूम हो। सब जीवोंका एक ज्ञानानन्दस्वरूप है। सभी प्रभु हैं, सबमें प्रभुता है, ऐश्वर्य है, सभीके सभी ज्ञानानन्दस्वरूप हैं, ऐसी बात समझमें आये तो नम्रताकी बात जगेगी। और जब तक यह जानते रहेंगे कि ये लोग तो न कुछ हैं, समझदार नहीं हैं, मैं ही इनमें समझदार हूं, ऐसी बात कोई समझता रहे और नम्रता आ जाय तो क्या यह सम्भव है? तो नम्रता करना धर्म है। इस नम्रताके साथ-साथ और भी तात्विक बातें आ जाती हैं।

आर्जव धर्मका वैशिष्ट्य—तीसरा धर्म बताया आर्जव, सरलता। छल कपट न करना। छल कपट न करे, सरलता आये, यह बात तभी बन सकती है जब यह निर्णय हो कि यह मैं आत्मा इस शरीरसे भी न्यारा केवल एक चैतन्य स्वरूप हूं। उससे मेरेमें न कुछ वैभव आ सकता और न मेरे साथ यह वैभव चिपका हुआ है। तो जब यह विदित हो कि मैं सबसे न्यारा केवल चैतन्य स्वरूप हूं, इस मेरेका यहाँ कुछ नहीं है, न कुछ मेरे साथ चिपका है, न ले जायेंगे। यह तो मैं सबसे न्यारा अकेला हू, यह बात चित्तमें आयगी, यह स्वरूप समझमें आयगा तो छल कपट छूट सकते हैं और जहाँ यह पर्याय बुद्धि रखेगा वहाँ इन्द्रियके साधनोंके लिए छल कपट करेगा तो सरलता करना धर्म है।

निर्लोभता ही धर्म है—इससे पूर्व श्लोकमें यह बताया था कि सभी लोग धर्म धर्म चिल्लाते हैं, पर धर्मका मर्म क्या है? इस बातसे जब तक शून्य हैं तब तक धर्म क्या करेंगे? बाहरी जितनी बातें हैं ये सब एक साधन मात्र हैं, सीधे धर्म नहीं हैं। सीधे रूपसे धर्म तो हम आपका निर्मल परिणाम है, आत्माकी शुद्ध परिणति है। तो आत्माकी दृष्टि न बनाये और फिर बाहरमें जिस किसी भी परिस्थितिसे धर्म धर्म समझकर उसकी ओर बहे तो मर्म कहाँ पाया? देखो धर्म आपका आपमें है, आपका धर्म आपमें मिल जायगा और उस धर्मकी प्राप्तिसे आप सन्तुष्ट हो जायेंगे। धर्म निर्लोभता है। लोभको पाप बताया है। लोभ न रहे उसे धर्म कहा है। लोभ न रहे ऐसे धर्मकी स्थिति हममें तभी आ सकती है जब यह समझमें आये कि यहाँ अपना कुछ नहीं है, देह तक भी जब अपना नहीं तो अन्य

है, उस धर्मका स्वरूप कहते हैं।

तितिक्षा मार्दवं शौचमार्जवं सत्यसंयमौ।
ब्रह्मचर्यं तपस्त्यागाकिञ्चन्यं धर्म उच्यते ।।२१८।।

स्वभावदृष्टिसे ही तत्त्वका सत्य निर्णय—धर्म इन १० रूपोंमें परख लिया जाता है। क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य। दूसरेका अपराध क्षमा कर देना सो क्षमा गुण है। क्षमा धर्म है कि नहीं? क्रोध करना धर्म नहीं है, अधर्म है और क्षमा करना तो धर्म है। धर्मकी बात यदि कोई आत्मदृष्टिसे विचारे तो जरा-जरा-सी बातमें यह निर्णय कर सकता है और आत्माकी दृष्टि न करके केवल बाहरी बातोंमें ही दृष्टि लगाये, फलाने गुरु हैं उन्हें पूज लें, फलाने देव हैं इन्हें पूज लें तो यह धर्मके स्वरूपको जान नहीं सकता। हालांकि धर्म पालनके लिए गुरुपूजा भी चाहिए, देवपूजा भी चाहिए, मगर वे सहायक हैं, वे सीधे धर्म नहीं पैदा करते। धर्म तो हम अपने आत्मा पर जोर दें और अपने विचारसे चलें तो होता है। यह हमारी कुछ मदद जरूर करते हैं अर्थात् हम धर्म पर चलना चाहें तो गुरु सत्संग और देवपूजा ये सहायक बनते हैं। पर हम तो टससे मस न हों, हम तो अपनी खोटी आदतसे बाज न आयें, केवल एक पूजा भक्तिसे हम अपना धर्म बना लें तो नहीं बन सकता है। तो जो कुछ भी अपने आत्माकी दृष्टि बनाकर निर्णय करे तो उसे निर्णय झट हो जाय।

क्षमाकी पहिचान—क्षमा करना धर्म है। क्षमा करनेसे कितने ही और और गुण पैदा हो जाते हैं। प्रथम तो क्षमा तबकी जब उसने दूसरे जीव का महत्त्व सोचा। हो गया अपराध कर्मोंके उदयसे, पर यह जीव तो शुद्ध है। इस जीवने कोई अपराध नहीं किया। जीवके परिणमनमें अपराध आ गया। यह जीव तो ब्रह्मस्वरूप है ऐसी दृष्टि जगे तब अच्छे विचारोंसे क्षमा की जा सकती है और ऐसी दृष्टि जगे बिना क्षमा करने वाला भी क्षमा-क्षमा कहता जायेगा और क्षमा नहीं कर सकता है। बहुतसे लोग अपनी सभ्यता जतानेके कारण कह देते हैं क्षमा, पर क्षमा करते नहीं हैं क्षमा न करनेका कारण क्या है कि जीवने अपना और दूसरे जीवका महत्त्व अभी नहीं आंका। यदि जीवका महत्त्व जीवका स्वरूप समझमें आये तो यह दिलसे माफ कर देगा। इसने अपराध नहीं किया, कर्मोंका उदय था इसलिए ऐसा कसूर बन गया। जीव तो यहाँ शुद्ध है। तो क्षमा धर्म यों आसानीसे नहीं आ जाता। उसमें अपनी योग्यता बनानी पड़ती है। तब क्षमा धर्म आता है।

मार्दव धर्म विशिष्टता—इसी तरह मार्दव धर्म है नम्रता करना। एक

अधर्म है।

इच्छानिरोध ही परमतपः -- ७ वां धर्म है तप, इच्छाका निरोध करना तप है। अब समझिये कि सारे जगत्‌के सिर पर यह इच्छा नाच रही है और सारा जगत इस इच्छाका दास बन रहा है। उस इच्छाको त्याग सके इसके लिए तो बड़ा साहस चाहिए। इच्छा न करे ऐसा साहस न कर सकने वाला ज्ञानी पुरुष ही हो सकता है। जिसे अपने स्वरूपके जौहरका पता है, अपने आपमें जो गुण हैं उसकी महिमाका पता है उसमें ही यह साहस बनेगा कि जगतके किसी भी बाहरी पदार्थकी इच्छा न करे। इच्छाका निरोध करना तप है और जो तप है सो धर्म है। यथा शक्ति इच्छाका निरोध करते हुए हमें अपने धर्मकी ओर बढ़ना चाहिए।

त्यागका वैशिष्ट्य--८ वां धर्म है त्याग धर्म। जो ग्रहण किया है वे सब परभाव हैं, परतत्त्व हैं, पर पदार्थ हैं, वे सब काल्पनिक हैं उनका त्याग करिये और अपने आपमें जो सहज बात है, ज्ञान है, आनन्द है उसकी प्राप्तिमें लगिये, उसकी दृष्टि रखिये। त्याग करना धर्म है। जो भी जीव संसारसे पार हुए हैं वे त्यागके प्रतापसे ही हुए हैं। संग्रह करके कोई मुक्त न हो सकेगा। त्याग किया तभी महात्मा बने और तभी परमात्मा हुए।

आकिंचन्यका स्वरूप---९ वां धर्म है आकिञ्चन्य। अपने आपको ऐसी समझमें रखना कि मेरा कहीं कुछ नहीं है। मेरा जो कुछ है वह सर्वस्व यह ही मुझमें है, मेरा स्वरूप ही मेरा है, इसके सिवाय अन्य कुछ मेरा नहीं है, इस तरह आकिञ्चन्यका परिणाम रखना धर्म है और मोह बनाना, यह सब मेरा है इस तरहके अंधकारमें रहना यह अधर्म है। तो आकिञ्चन्य धर्म है।

स्वरूपमे रमण ही ब्रह्मचर्य--आखिरी बात बताई है ब्रह्मचर्य। जिसका अर्थ है ब्रह्म मायने आत्मा उसमें चर्य मायने लीन हो जाना। अपने आत्मस्वरूपमें मग्न हो जाना यही धर्म है। जहां राग द्वेष मोह आदि कुछ नहीं रहे उसका नाम धर्म है। इस तरह धर्मका कुछ विवरण जानना हो तो इन १० प्रकारके अंगोंमें धर्मकी बात समझ सकते हैं। इस पर यदि दृष्टि न हुई और धर्मके नाम पर बड़े विवाद कलह गालियां, क्या क्या बातें बना लीं तो वह धर्म नहीं है, धर्म तो वस्तुका स्वरूप है अपने आपका सही श्रद्धान, ज्ञान और आचरण करना, अपने कैवल्यका अनुभव करना यही धर्म है।

यद्यदात्मनस्यानिष्टं तत्तद्वाक्चित्तकर्मभि कार्यम्।
स्वप्नेऽपि नो परेषामिति धर्मस्याग्रिमं लिङ्गम् ॥२१९॥

पदार्थ क्या अपने हो सकते हैं। क्या परिजन, क्या वैभव, क्या मित्रजन कुछ भी अपनी वस्तु नहीं है। यह बात एक अनुभवमें उतर जाय तो उसकी इन वैभवोंसे प्रीति हट सकती है और निर्लोभता जग सकती है। निर्लोभ करना धर्म है और लोभ करना अधर्म है।

सत्का निर्णय ही परमसत्य—५ वीं बात बतायी गई है सत्य। सभी लोग कहते हैं सत्यमेव जयते। सत्यकी ही विजय होती है। सत्य ही धर्म है, झूठ बोलना पाप है। पर सच ही बोला जाय, सच पद्धतिसे रहा जाय ऐसा साहस ज्ञान जगने पर ही हो सकता है, मिथ्यात्व दशामें नहीं हो सकता है। मोह तो हममें बस रहा हो दुनियाका और हम सच्चाईकी डींग मारें तो सच्चाई कैसे प्रकट हो सकती है? सच्चाईकी बात सही ढगसे उसमें ही प्रकट हो सकती है जिसने अपने स्वरूपका ठीक निर्णय किया है, जगतके समस्त पदार्थोंका ठीक स्वरूप जाना है, अपने को सबसे न्यारा मात्र चैतन्यस्वरूप माना है उसमें ही यह साहस जग सकता है कि हम तो सच्चाईके साथ रहेंगे और सत्य ही बोलेंगे।

छठवा धर्म बताया है संयम। जैसा चाहे खाना· जब चाहे खाना, मांस मदिराका भी विवेक नहीं और जैसी चाहे प्रवृत्ति करना, यह धर्म नहीं है, इससे किसीका पूरा तो न होगा। किसी भी बातका ख्याल न रखना और मौजसे अपने विषयोंका सुख लूटने के लिए असयमरूप प्रवृत्ति रखना, किसी भी बातपर नियन्त्रण न रखना ऐसा जो आचरण है वह आचरण जीवका हितकारी नहीं है, पापरूप है। और जिसने अपने मन को मार लिया, अपने को सयममें ढाल लिया, इन्द्रिया सयत हैं, मन सयत हैं तो इस प्रकारसे जो अपने आपको संयममें रखता है तो यह सयमकी स्थिति इस जीवको शान्ति पहुंचाती है और तृष्णा करे तो कहीं भी शान्त नहीं हो पाता। जितने कुछ विषयोंके भोग मिले उससे क्या यह कभी तृप्त हुआ है कि हमने इतना आज भोग लिया, अब भोगने की जरूरत नहीं रही। किसी भी विषयभोगमें सन्तोष किसी को नहीं होता। जैसे बहुत बढिया मिठाई आज खा लिया तो ऐसा निर्णय तो कोई नहीं कर पाता कि कितना बढिया स्वाद है? अब हमें जरूरत न रहेगी इसके समझने की या मिठाई को खानेमें ऐसा सतोष कौन करता है। किसी भी विषयके भोग में जिस कालमें भोगकी इच्छा है उस काल तो उसका यह ख्याल बना कि यह भोगमें आ जाय फिर तो हम सुखी हो जायेंगे, फिर हमें जरूरत न रहेगी। लेकिन भोगने के बाद फिर उसी की आकाक्षा होती है। तो असंयमकी प्रवृत्तिमें किसी ने शान्ति नहीं पायी। तो अपने मनको सयत रखना, इन्द्रियोंपर नियंत्रण रखना यह धर्म है और असंयमसे रहना

यह तो कोई अच्छी बात नहीं है। धर्मी पुरुषोंका व्यवहार इतना मधुर और नम्र होता है कि उससे वह भी सुखी रहता है और दूसरे लोग भी सुखी रहते हैं। हितमित प्रिय वचन हों। इसी प्रकार समस्त प्रवृत्तियां इस जीवकी ऐसी भली होनी चाहिएँ कि जिससे बाहरमें भी शान्तिका वातावरण बने और खुदमें भी शान्ति की बात आये। परिग्रहकी बात जिस किसी भी प्रकार हो उससे दूर रहें। दूसरेका परिग्रह हड़पना ऐसी प्रवृत्ति से उसपर कोई खुश रहता है क्या ? वह तो उसे गाली देगा। उसे असन्तोष हो जाता है। तो जो बात स्वयंको इष्ट नहीं है वह बात दूसरोंके लिए क्या करें। यही धर्मका काम है।

धर्मं शर्मभुजङ्गपुङ्गवपुरीसारं विधातुं क्षमो।
धर्मं प्रापितमर्त्यलोकविपुल प्रीतिस्तदाशंसिताम्॥
धर्मं स्वर्नगरीनिरन्तरसुखास्वादोदयस्यास्पदम्।
धर्मं किं न करोति मुक्तिललनासंभोगयोग्यं जनम्॥२२॥

धर्मका गौरव—सर्व प्रकारके कल्याण मिलें, इस बातकी सामर्थ्य धर्ममें ही है। बड़े-बड़े धरणेन्द्रके सुख बड़े ऊँचे इन्द्रादिकके, सुख इनके प्राप्त करानेमें समर्थ एक धर्म ही है। धर्म बिना कौन तिरा ? हम आप सुबह नहाकर मंदिर आते हैं, पूजन करते हैं नमस्कार करते हैं, मूर्ति बना कर। साक्षात् जो भगवान हैं वे भी नहीं हैं किन्तु उनके नामकी मूर्ति बनाते हैं, उसका भी हम वंदन करते हैं। यह किसका प्रताप है ? यह धर्मका प्रताप है। आत्माका स्वभाव पूर्ण विकसित हो गया है ऐसी धर्ममूर्तिके प्रति हम वंदन करते हैं। यह धर्मका ही तो माहात्म्य है। धर्ममें ही समस्त प्रकारकी अद्भुत सामर्थ्य पड़ी हुई है। दुनियामें जितनी चहल पहल है, पुण्य यश है, बड़ी बड़ी व्यवस्थाएँ हैं यह सब धर्मका ही प्रताप है। धर्म बिना किसी भी जीवको शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। धर्म ही धर्मात्मा पुरुषोंको बड़े-बड़े सुख देनेमें समर्थ है। इस मनुष्यलोकमें भी जितने भी प्रकारके सुख हैं, परिजनका सुख हो, बड़े भले मित्र मिले हों उन मित्रोंके मिलनेका सुख हो और लोकमें बड़े-बड़े अधिकार मिले हों, ऐश्वर्य मिले हों उसका सुख हो, जितने भी सुख हैं वे सब धर्मके पालनके प्रतापसे मिलते हैं।

धर्म ही मुक्तिका मूल—जीव क्या करेगा ? सारी परवस्तुयें हैं, प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है। समस्त वस्तु अपनी २ योग्यतानुसार योग्यनिमित्त पाकर परिणमते रहते हैं। किसी वस्तुपर हमारा कोई अधिकार नहीं है। हम किसी वस्तुमें कुछ निष्पत्ति नहीं करते, फिर हम बाह्य वस्तुमें करें क्या ? हम जो कुछ कर सकते हैं अपने आत्मामें कर सकते हैं। सिवाय भावना

धर्म आचरणसे धर्मीकी पहिचान--धर्मकी पहिचान क्या है? इस बातको इस दोहेमें कह रहे हैं। धर्मकी मुख्य पहिचान यह है कि जो काम अपने को बुरे लगते हैं उन कामोंको दूसरोंके लिए स्वप्नमें भी न करें, यह धर्मकी पहिचान है। कोई पुरुष धर्ममें रत है यह जानना हो तो उसकी इस प्रवृत्तिको जान सकते हैं, कोई पुरुष अपना दिल दुःखाये तो भला नहीं लगता। तो अपना भी कर्तव्य यही है कि हम भी दूसरेका चित्त न दुखाये। यदि कोई अपने को सूई चुभोता है तो उसमें अपने को कितना दुःख होता है तो मेरा भी कर्तव्य है कि मैं दूसरे जीव पर प्रहार न करूँ, छुरी न चलाऊँ, हिंसा न करूँ। जिसकी अहिंसारूप प्रवृत्ति है उसे समझिये कि यह धर्मका पात्र है। कोई पुरुष हमारे विषयमें झूठ बोलता है तो उससे हमें कितना दुःख होता है, झूठी गवाहीके कारण तो कितने ही पुरुषोंकी जान भी चली जाती है। तो असत्य भाषण करना, खुदके विषय में कोई असत्य भाषण करे तो कितना क्लेश पहुचता है? तो जब असत्य भाषण अपनेको अनिष्ट लगते हैं तो अपना भी कर्तव्य है कि हम किसीके विषयमें असत्य भाषण न करें। आत्मामें बल तब बढ़ता है जब अपने आध्यात्मिक आचरणमें रत रहा करते हैं। कोई मनुष्य आपकी चीज चुराले तो उसमें आपको कितना कष्ट मालूम पड़ता है? तो अपना यह कर्तव्य है कि हम किसीकी चीज न चुरायें। तो यों जो जो बात अपने लिए अनिष्ट लगे वह वह बात दूसरेके प्रति स्वप्नमें भी न करें यही है धर्मकी पहिचान। कोई पुरुष अपनी मा बहिन पर कुदृष्टि करता है तो अपनेको कितना बुरा लगता है, परस्त्रीपर कुदृष्टि करता हो कोई तो वह सबको आंखोंमें खटकता है और लोग उसकी जान तक भी नष्ट करनेके लिए तैयार हो जाते हैं। धर्मकी पहिचान बाह्य वृत्तियोंसे की जाती है। अन्तरङ्गमें इसका क्या भाव है उस भावको जाननेका कोई तरीका है तो उसकी बाह्य वृत्तियोंका निरखना ही तरीका है। भीतरकी बातको कौन क्या जाने?

धर्मीका बाह्य आचरण कैसा?—इसीसे तो विवेकी पुरुष यह है कि किसी भी प्रकारकी अपने अन्दर खराबी न रक्खे। वचन सदा हितमित प्रिय बोलना। ऐसे वचन बोलना कि दूसरोंका सदा हित करें, अहित न करें और व्यसनोंमें न लगायें ऐसे वचन बोलना, और साथ ही ये प्रिय वचन हों। हमारा यदि दूसरेके सुधार करनेका भाव है तो हृदयमें प्रेम ही तो उत्पन्न होता है। और सुधार करनेका भाव है फिर सुधार करनेकी दृष्टिसे कोई बात बोले तो बुरा क्यों बोला जाय? प्रिय वचन बोले जायें। अप्रिय वचन बोलकर खुदको भी क्लेशमें डालना और दूसरेका भी नफा न होना

धर्मोंका तो इस भावनाके प्रकरणमें खूब वर्णन आ चुका है। तीसरा स्वरूप बताया है धर्मका रत्नत्रय धर्म है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र अर्थात् आत्माका यथार्थ विश्वास होना और जैसा आत्माका सहज स्वरूप है, अपने आप जो अस्तित्व है उसमें जो स्वभाव पड़ा हुआ है उस स्वभावकी दृष्टि रखना, ज्ञान रखना और उस स्वभावमें मग्न होनेका यत्न रखना यही रत्नत्रय है और धर्म है। चौथा स्वरूप बताया है दयामयी धर्म जहाँ अपनी दया और परकी दयाका निवास है उसे धर्म कहते हैं। अपनी दया तो इसमें है कि विषयोंकी इच्छा न जगे और कषायोंके वेग न उठें, क्योंकि विषयोंकी इच्छा होनेसे यह आत्मा बेचैन हो जाता है। और किसी भी प्रकारकी कषायें उठती हैं तो यह आत्मा विह्वल हो जाता है। यदि कषायें न जगें, विषयोंकी इच्छा न बने तो समझो अपनी दया है। ये दो ही बड़े दुश्मन हैं आतमके अहित विषय कषाय। विषय और कषाय ये दोनों ही आत्माके शत्रु हैं। तो विषयोंकी इच्छा न जगे और कषाय न उत्पन्न हों यह आत्माकी दया है। अब सोच लो हम जितने भी धर्मके नाम पर काम करते हैं उन सब कार्योंमें यदि ये २ बातें बसती हैं तो यही धर्म है और यही अपनी दया है, और इसीके लिए ही पूजा जाप, स्वाध्याय सब कुछ किए जाते हैं।

पूज्यके पूज्यत्वकी पहिचानः पूजा—पूजामें भगवान अरहंतका स्वरूप विचारा जाता है। प्रभु शुद्ध हैं प्रभु सर्वज्ञ है, इसका अर्थ क्या है? समस्त दोष कालिमाओंसे रहित जब तक प्रभुके निर्दोष स्वरूपकी स्मृति न जगे तो हमने प्रभुकी पूजा क्या की? हम पूजा करें और प्रभुमें गुण क्या हैं? उस की खबर न रहे तो वह पूजा क्या पूजा है? पूजाके मायने प्रशंसा गुणानुवाद। जो सही बात है, उत्कृष्ट बात है उन गुणोंका बोलना यही पूजा है। वे गुण हममें भी हैं तो उन गुणोंका विकास हो यह प्रयोजन सिद्ध होता है इसलिए प्रभुपूजा की जाती है। मान लो प्रभुमें कितने ही उत्कृष्ट गुण हों तो वे गुण उनके लिए हैं, हमारे लिए क्या है। यदि हम प्रभुके समान गुण स्वभाव वाले न हों तो प्रभु चाहे कितने ही ऊँचे गुणवान हों, उनकी पूजासे लाभ क्या होगा? हमें कुछ लाभ मिले तब तो पूजाका प्रयोजन है। प्रभुके गुणस्मरणसे हमें लाभ यह होता है कि हमें अपने स्वरूपकी सुध होती है। मैं भी तो प्रभुके समान अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्तिका धारी हूं, कैसा मैं भेड़ बकरियोंके बीच पले हुए सिंहकी तरह कायर बन रहा हूं? जैसे कोई गड़रिया अपनी भेड़ बकरी चराने जंगलमें गया तो वहां सिंहका बहुत छोटा बच्चा उसे मिल गया। उसकी मा मर गयी हो या कहीं बिछुड़ गई हो। गड़रियाने उस सिंहके

के हम और करते क्या हैं। जब हम धर्म करते हैं तो वहां भी तो भावना ही करते हैं। भावना ही धर्म है। जब कोई व्यापारमें लगता है तो क्या करता है। एक कल्पना ही तो करता है। कल्पना ही व्यापार है। घरमें रहते हैं तो क्या करते हैं? एक कल्पना ही तो करते हैं, विकल्प ही तो करते हैं, और विकल्प ही मेरी व्यवस्था है। जो कुछ है वह आत्माका परिणमन ही आत्माके पास है इससे आगे और कुछ नहीं है। तो ये ही विकल्प, ये ही कल्पनाएँ यदि धर्मात्मा पुरुषोंके सम्बधमें उठती हैं तो वे शुभ विकल्प कहलाते हैं। वहां पुण्य बध हुआ और पुण्य बंधका यह सब ठाठ है जो संसारमें नजर आता है। तो धर्मके ही प्रतापसे जीवोंको सुख प्राप्त होता है। स्वर्गोंमें बडे-बडे देवोंमें इन्द्रोंमें जो महान् महान् सुख हैं उन सुखोंका कारण भी धर्म ही है। मुनि हुए विना स्वर्गसे ऊपर उत्पत्ति नहीं है। १६ वें स्वर्ग तक श्रावक उत्पन्न हो सकता है पर स्वर्गके ऊपरके जो विमान हैं उन विमानोंमें मुनि धर्म निभाये विना उत्पत्ति नहीं होती। चाहे नवग्रैवेयक अज्ञानी मिथ्या दृष्टि मुनि भी उत्पन्न हो जाय पर वहां उत्पन्न होनेके लिए कितनी मन्द कषायें होनी चाहिएँ और मन, वचन, कामका कितना सयम होना चाहिए जिसे मुनिधर्ममें ही किया जा सकता है। तो मुनिधर्म बिनातो नवग्रैवेयकमें उत्पत्ति नहीं होती। नवग्रैवेयकसे ऊपर तो सम्यग्दृष्टिकी ही उत्पत्ति होती है। स्वर्गोंके सुख और स्वर्गोंसे ऊपर अहमिन्द्रोंके सुख धर्मके प्रतापसे मिलते हैं। और की तो वात क्या, धर्म बिना मुक्ति प्राप्त नहीं होती। धर्मका साक्षात् फल मोक्षकी प्राप्ति है। तो धर्मके प्रताप से जब मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है तो ससारके अन्य सुखोंकी तो वात ऐसी है जैसे अन्न प्राप्त करने वाले भुसको प्राप्त कर डालते हैं।

यदि नरकनिपातस्त्यक्तुमत्यन्तमिष्टम्।
त्रिदशपतिमहर्द्धिं प्राप्तुमेकान्ततो वा।
यदि चरमपुमर्थः प्रार्थनीयस्तदानीं।
किमपरमभिधेयं नाम धर्मं विधत्त ॥२२१॥

धर्मके लक्षण अनेक पर भाव सबका एक—हे आत्मन्! यदि तुझे नरकका रहना इष्ट नहीं है, नरकसे दूर रहना चाहता है। यदि इन्द्रों जैसी महा विभूतिको प्राप्त करना चाहता है, अथवा ४ पुरुषार्थोंको तू चाहता है। तो विशेष क्या कहा जाय? तो एकमात्र धर्मका सेवन कर। धर्मके ४ स्वरूप बताये गए हैं। एक तो जो वस्तुका स्वभाव है सो धर्म है। जैसे आत्माका स्वभाव ज्ञान, दर्शन हैं तो शुद्ध ज्ञान दर्शनकी वृत्ति होना यह आत्माका धर्म है। एक तो वस्तुस्वभावका नाम धर्म है, दूसरा बताया है क्षमा मार्दव आर्जव आदिक। जो १० प्रकारके विशुद्ध परिणाम हैं वे धर्म हैं। अब १०

गमन इष्ट नहीं है। इन्द्रके जैसा महान् वैभव पाना इष्ट है तो ४ पुरुषार्थोंमें से अन्तिम जो मोक्ष पुरुषार्थ है उसका तेरा वादा है तो इस सब सिद्धिके लिए अनेक बातें क्या बतायें, एक ही उपाय है कि तू एक इस धर्मका सेवन कर। यह धर्म ही सर्व प्रकारसे तेरी रक्षा करता है और सर्व प्रकारके इष्ट तत्त्वोंकी प्राप्ति कराता है।

धर्मके सिवाय अन्यमें शरणत्वका अभाव—अब अपनेको इस धर्मभावना के भानेसे यह शिक्षा लेनी चाहिए कि हमारा इस लोकमें अन्य कोई शरण नहीं है, किसकी शरण जायें ? खुदका श्रद्धान, ज्ञान और आचरण यदि धर्म रूप है तो दुनियाके अन्य पदार्थ भी इसकी रक्षाके साधन बन जायेंगे। यदि खुदमें धर्म नहीं है तो कैसी भी स्थिति कोई प्राप्त कर ले लेकिन जब पापका उदय आयगा तो सब मुख मोड़ लेंगे, कोई रक्षा करने वाला न होगा। एक मात्र धर्मका सहारा लें। धर्मके प्रतापसे इस भवमें भी अनेक समृद्धियोंकी सिद्धि होती है और मरनेके बाद भी इस धर्मके प्रतापसे अनेक अनुपम सिद्धि लगती हैं। और अन्तमें इस धर्मका सहारा लेनेसे मुक्ति प्राप्त होती है। भला सोचो कि जहां शरीर भी दूर हो जाय, विकार दूर हो जायें, केवल आत्मा ही आत्मा रहे ऐसी सिद्ध दशा प्राप्त होती है वहां आकुलताका कोई काम रहता है क्या ? भूख प्यास शरीरकी वजहसे होती है। शरीर न रहे तो भूख, प्यास, शर्दी गर्मी आदिकी कोई वेदना ही न रहे। ये सब वेदनाएँ तो शरीरमें आत्मबुद्धि करनेसे होती हैं। जहां शरीर ही न रहे, विकार ही न रहे केवल ज्ञानस्वरूप ही बस रहा है, अनन्त आनन्दमयताका अनुभव चल रहा है वहां सम्मान अपमानकी वेदना, भूख प्यास शर्दी गर्मी आदि की वेदनाका क्या काम है ?

धर्मसे ही संकटोंका विनाशकी सम्भवता—जगतमें जितने भी क्लेश हैं वे सब अधर्मके कारण हैं। परवस्तुको यह मैं आत्मा हूं, ऐसा मानना अधर्म है। अपने आपके विकारकी यह मेरा कर्तव्य है, यह मेरा काम है, इस प्रकार इन परभावोंमें आत्मीयताकी बात मानना अधर्म है। अब सोचते जाइये हमें जब-जब भी क्लेश होते हैं अधर्मके कारण होते हैं। ज्ञान यदि सही बना रहे, भेदविज्ञान बना रहे वहां क्लेशका कोई काम नहीं रह सकता। यदि समस्त सक्लेशोंसे, समस्त संसारके संकटोंसे निवृत्त होना है तो अपना मूल कर्तव्य है यह कि हम धर्ममार्गमें लगें, धर्मरूप अपना आचरण बनायें तो सर्व प्रकारसे सुख हो सकता है। देखिये धर्म तो चीज एक ही है। और वह मोक्षरूपमें केवल शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहने रूप है किन्तु व्यवहारनयकी प्रधानता करके जब सोचते हैं तो हमें धर्मका स्वरूप ही धर्म की महिमा, धर्मका फल ये सब जानना चाहिए। जब हमें धर्मके सम्बन्धमें

बच्चेको पकड़ लिया और अपनी भेड़ बकरियोंमें उसे रख लिया। वह सिंह का बच्चा बड़ा हो गया किन्तु अपनेको उसी तरह जैसे भेड़ बकरियां रहती थीं वैसा ही अपनेको मानने लगा। एक बार जंगलमें एक शेरने बड़ी जोर की हुंकार मारी तो गड़रिया, बकरी, भेड़, सभी भागने लगे। वह सिंहका बच्चा सोचता है कि मैं भी तो इस ही की तरहका हूं जिसकी हुंकार सुनकर ये सब भगा रहे हैं। इतना ख्याल होते ही वह छलांग मारकर निकल गया, तो उसका सारा बन्धन छूट गया। वनमें स्वतन्त्र होकर विचरने लगा ऐसे ही हम आप संसारके सब आत्मा अनादि कालसे विषय कषायोंसे मलिन हैं और विषय कषायोंसे मलिन आत्माओंमें व्यर्थ रमा करते हैं। तो ऐसी आदत बन गयी है कि दूसरोंको भी कायर देखने और स्वयमें भी कायरताका अनुभव करते।

प्रभु भक्तिकी उपादेयता—मैं यह हूं, मेरा तो यह काम है, मेरा यह परिवार है, इस प्रकारकी व्यवस्था बनाना, परिग्रहका संचय करना, दूसरों की बात सहन करना, पड़े तो सहन करना यह सब कायरता इन विषयोंके लोभी पुरुषोंमें आ गयी, अब उस कायरताके आदी बन गए। जब भगवान के गुणोंका यह स्मरण करता है और वहां अपने आपकी इसे सुध होती है ओह मैं भी तो प्रभुकी तरह ज्ञान दर्शन स्वभाव वाला हूं। मेरा स्वरूप और क्या है? जो प्रभुका स्वरूप है वही मेरा स्वभाव है। आत्मीय ज्ञान और आनन्द इन दो गुणोंका ही सब कुछ ठाठ है। रूप इसमें है नहीं, रस गंध कुछ है नहीं, मिट्टी ढेलेकी तरह यह पकड़ा जाता नहीं। यह आकाशकी तरह निर्लेप, अमूर्त किन्तु जानने देखनेके स्वभाव वाला यह एक अनुपम तत्त्व है। तो मेरा स्वरूप भी ज्ञान और आनन्द है। ज्ञान और आनन्दके अतिरिक्त अन्य कुछ मुझमें है ही नहीं। अन्य जो कुछ हमारे साथ लेप होते हैं वे सब पुद्गल हैं। मैं इन सब परतत्त्वोंसे भिन्न केवल ज्ञानानन्दमात्र हूं, ऐसी दृष्टि जगती है प्रभुके गुणस्मरणमें, प्रभुकी भक्तिमें। तो इसलिए हम प्रभुभक्ति करते हैं कि हमें अपने आपका बड़ा लाभ होता है।

इष्ट सिद्धिका मूल धर्म—जहां विषय और कषाय ये दोनों परिणाम मिटे वही है अपनी दया। और जो अपनी दया पाले हुए है उसके निमित्त से दूसरेपर कोई उपद्रव नहीं है। और दूसरेकी दया रखना है, दूसरेको कैसे शान्ति मिले, कैसे आराम मिले, उसके विरुद्ध यह कुछ नहीं सोचता है बस यही परदया है। तो धर्मका चौथा स्वरूप है दयामय होना। तो इन चार स्वरूपोंमें बात एक ही पायी जाती है आत्माका विशुद्ध परिणमन। आत्माका जो निर्मल परिणमन है वही धर्म है। उसी धर्मके प्रतापसे यह जीव मोक्षपुरुषार्थकी भी सिद्धि करता है। तो हे आत्मन्! यदि तुझे नरक

लोकका आकार—लोककी रचना, एक सीधे ढंगसे समझना चाहे तो ऐसा ख्याल करे कि ७ लड़के बराबरीके एकके पीछे एक खड़ा हो और वे सातों लड़के पैर फैलाये हो और कमर पर हाथ रखे हों तो जो शकल उस समय उस बालसेनीकी बनती है वही सकल लोककी है। जैसे मान लो एक लडका जितना ऊँचा है उस ऊँचाईके १४ भाग करो, मान लो १४ राजू ऊँचा लोक है तो इतनी ही ऊँचाई उन बालकोंकी है और जितना लम्बा बालक है, उससे आधी चौड़ाई उसके पैर फैले हों तो मानो ७ राजू नीचे चौड़ा है, नीचे सब जगह टेहुनीके पास सात-सात राजू हैं, क्योंकि ७ बालक खडे हों तो सामनेसे देखने पर यों दिखेगा कि सामनेसे ७ राजू हैं और ऊपर घटते-घटते एक राजू रह गया, फिर बढना शुरू हुआ। तो कुछ बाहर चलकर ५ राजू हो गया जहाँ तक कि टेहुनी है और ऊपर घटते-घटते एक राजू रह गया। सामनेसे तो यों दिख रहा है पर बगलसे देखो तो सब जगह ७-७ राजू है? तो यह तो है लोककी रचना। अब इस लोकके अन्तिम भागमे क्या है? कैसे यह लोक सधा हुआ है तो उस लोकके अन्तिमभागमें सर्वत्र चारों ओर ३ प्रकारकी हवायें हैं उन हवाओंका नाम है घनवातवातवलय। घनोदधिवातवलय, तनुवातवलय। लोकके बिल्कुल अन्त मे पतली हवा है, फिर मझोली फिर उसके भीतर खूब दृढ़ हवा है, तो इन हवाओंका फैलाव है। हवाएँ ३ प्रकारकी हैं जिनसे यह लोक सधा हुआ है। इसके आकारको हम ताड वृक्षके आकारसे तुलना कर सकते हैं। जैसे ताड़का वृक्ष नीचे तो चौड़ा रहता है फिर घटकर पतला हो जाता है फिर बढ़ता है और फिर अन्तमें ऊपर घट जाता है। इस प्रकारके आकार वाला यहलोक है।

लोकसमागमके यथार्थ निर्णयसे विषादका अनवकाश—आजकलके लोग जितनी दुनिया मानते हैं वह दुनिया तो यो समझिये कि जैसे लाख कोश की जमीनके बीच एक पानीका बूँद पडा हो उतनी बड़ी है, लोक तो इस परिचित दुनियाका अनन्त गुना है, उस लोकके प्रत्येक स्थानपर हम आप हो आये हैं, और इस लोकमें जितने भी समागम हैं सब समागम कई बार मिल चुके हैं। जगतमें जितने जीव हैं वे सब जीव मित्र बन चुके, वे सब जीव शत्रु बन चुके जिसे आज हम शत्रुके रूपमें देखते हैं वह कितने ही बार मित्र रह आया है और जिसे आज मित्रके रूपमे देखते हैं वह कितने ही बार हमारा शत्रु रह आया है, और वास्तवमें न कोई शत्रु है और न मित्र है, लेकिन समागम सबका अनेक बार हुआ। तो ऐसा जानकर यह ख्याल करो कि वर्तमानमें जो भी समागम मिले हैं वे सब भी हमारे कुछ नहीं है, ऐसे ऐसे समागम तो अनेक भवोंमे मिलते आये हैं, बिछुड़ते

सब तत्त्वोंका ज्ञान होगा तो हम धर्मकी भावना कर सकेंगे और धर्म भावना में सफल हो सकेंगे।

यत्र भावा विलोक्यन्ते ज्ञानिभिश्चेतनेतराः।
जीवादयः स लोकः स्यात्ततोऽलोको नमः स्मृतः ॥२२२॥

लोकस्वरूपका दिग्दर्शन—बारह भावनाओंमें यह लोक भावना है। लोक किसे कहते हैं? जितने आकाशमें चेतन और अचेतन पदार्थ देखे जायें उसको तो लोक कहते हैं। और उससे परे जो हैं वह अलोक है। लोक शब्दका अर्थ देखना है। जैसे हिन्दीमें कहते हैं तुम क्या लुकलुककर देखते हो, तो लुक धातुका देखना अर्थ है और लुकसे बना है लोक। याने जहाँ पर सभी पदार्थ देखे जायें उसका नाम है लोक और उससे बाकी जितना भी बचा हुआ है चारों ओर वह है अलोक। लोकमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ६ द्रव्य हैं, और अलोकमें केवल आकाश है। तो जहाँ छहो द्रव्य पाये जायें उसका नाम है लोक और उससे बाहर जितना भी आकाश बचा है वह सब है अलोक। तो लोककी कैसी रचना है, लोकको किसने बनाया है अथवा नहीं बनाया है, वह लोक कबसे चला आ रहा है, किसके बलपर चला आ रहा है, इस लोककी कैसी रचना है, कैसा आकार है और लोकमें बहुधा काम क्या हुआ करता है, इन सब बातोंका वर्णन इस लोकभावनामें आयगा।

लोकभावनासे उपलभ्य मुख्य शिक्षा—लोक भावना भानेसे शिक्षा यह मिलती है कि हे आत्मन! इस लोकमें जो कि इतना बड़ा है इसमें एक भी प्रदेश ऐसा नहीं बचा है जहाँ यह जीव अनन्त बार पैदा न हुआ हो और मरा न हो। जब इस लोकमें प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त बार पैदा हो चुके, अनन्त बार रह चुके और इस लोकमें अनेक बार अनेक समागम हुए तब कहाँ ममता करते हो, किस चीजमें ममता करते हो? यहां जीव वह दुःखी है जिसके ज्ञानकी दृष्टि नहीं बन रही और जिसके ज्ञानकी दृष्टि बनी वह सुखी है धन वैभवसे सुख शान्ति नहीं मिलती है। जितनी ज्ञानकी ओर अपनी निगाह हो उतना तो आनन्द है और जितनी अज्ञानमय जैसी बात है वह सब क्लेश है, धनसे सुख होता हो तो देख लो करोड़पति तो दुःखी और खोंचा लगा कर अपने बच्चोंका पेट पालने वाले गाते हुए बड़ी मस्ती से मिलेंगे। तो धनसे सुख नहीं है यह तो अपने अपने ज्ञानकी बात है। तो लोकभावना भानेसे यह शिक्षा मिलती है। अब इस लोकके सम्बधमें आकार कैसा है? उसका इसमें वर्णन करते हैं।

वेष्टितः पवनैः प्रान्ते महावेगैर्महाबलैः।
त्रिभिस्त्रिभुवनाकीर्णो लोकस्तालतरुस्थितिः ॥२२३॥

नहीं किया, वह तो अनादि निधन है।

तीन वातवलयोके आधारपर लोककी स्थिरता—कोई पुरुष ऐसा मानते हैं कि इसे बनाया तो किसी ने नहीं, किन्तु इसको कोई थामें हुए है। कोई मानते कि यह पृथ्वी कीली पर थमी है, कोई कहते कि यह पृथ्वी शेषनाग पर थमी है परन्तु थमी किसी पर नहीं है। इस पृथ्वीके चारों ओर जो तीन प्रकारकी हवा है उस हवा पर यह सब सधा हुआ है। एक ठेलेमें ढाई तीन सौ मनका भार लादा जाता है, और वह ठेला रखा है पहियों पर। पहियोंमें है क्या? हवा। तो हवामें कितनी शक्ति है जरा अदाज तो करो, कहने को तो यों लगता है कि हवा है, हवामें क्या शक्ति है? और देख लो मोटर ठेलोंके पहियोंमें हवा भरी रहती है तो बहुत बोझा होने पर भी वे पहिया नरम नहीं होते। तो हवामें कितना ही भार झेलने की सामर्थ्य है, फिर यह तीन लोकके भारको झेलने वाली सामान्य हवा नहीं है, यह हजारों धनुषसे मोटी हवा है। उस हवा पर यह लोक सधा हुआ है, इसे किसीने भी रख नहीं रखा है। कोई लोग मानते हैं कि यह लोक कछुवेकी पीठ पर है, जो कक्षप अवतार मानते हैं वे मानते हैं कि कछुवापर यह पृथ्वी सधी है। उनको यह जंचा कि कछुवे की पीठ बड़ी कड़ी होती है उस पर कितना ही वजन रख लो। कछुवा अपनी चोंच अगर भीतर डाल ले तो फिर कितने ही डडे मारो उसको कुछ असर नहीं होता। उसका जो गला निकला रहता है वह बहुत कोमल होता है, उसमें जरा सा भी घात हो जाय तो मरने की नौबत है। तो कछुवे की पीठ बहुत दृढ़ होती है। पुराने समयमें लोग कछुवे की पीठकी ढाल बनाते थे जिस पर तलवार चले तो असर नहीं होता। सोचा कि ऐसा कौनसा जानवर है जो अपनी पीठ पर इतनी बड़ी जमीन लादे हुए है, कोई लोग मानते हैं कि कछुवेकी पीठ पर यह लोक सधा है। कुछ लोग मानते हैं कि यह लोक शेषनागके फनपर ठहरा है, पर यह उनका कोरा भ्रम है, यह तो स्वयं सत् है, किसी जानवर पर नहीं सधा है। तीन तरहकी हवा है उस पर सधा हुआ है और इसका आधार कुछ है ही नहीं, ऐसी तर्कणा क्यों करते हो कि विना आधारके यह लोक आकाशमें कैसे ठहरेगा, भग्न हो जायेगा। भग्न नहीं होता, निराधार है, वह तो आकाशमें वातवलयों के आधार पर स्वयं अपने आप ठहरा हुआ है, यह है लोक।

आत्मज्ञान विना लोकमें भ्रमण व शान्तिका अभाव—इस लोकमें यह जीव अपने आत्माका ज्ञान न पानेसे अब तक भ्रमण करता आया है। इस लोकमें कितने प्रकारके शरीर हैं उनको गिनाया नहीं जा सकता। असख्याते प्रकारके शरीर हैं, उन सब शरीरोंमे यह जीव जन्म ले चुका है

आये हैं, जो अपने जीवनमें मिले हुए समागमोंमें राग, बनायेगा, स्नेह बढ़ायेगा यह तो निश्चित है कि जो कुछ मिला है उसका वियोग जरूर होगा, किसीके टाले नहीं टल सकता वियोग। पर जब वियोग होगा तो कितना दुःख उठाना पड़ेगा इस रागीको। तो वियोगके समयमें हमें क्लेश न हो ज्यादा, इसका अभ्यास अभीसे करना चाहिए। जब तक सयोग है, समागम है तब तक भी भावना बना लें, मेरा कहीं कुछ नहीं है। मेरा तो मात्र मैं आत्मा हू, यह है आत्माकी असली कमाई। जो यह भाव भरता रहे कि मेरा मात्र मैं हूं उसकी असली कमाई है। जिनका समागम हुआ है उनका जब वियोग होगा तो उस भावनाके कारण पहिलेसे अभ्यास है ना। इस वजहसे दुःख न होगा।

निष्पादितः स केनापि नैव नैवोद्धृतस्तथा।
न भग्नः किन्त्वनाधारो गगने स स्वयं स्थितः ॥२२४॥

लोककी अनादिनिधनता—अनेक पुरुष इस लोककी रचनाके सम्बन्धमें बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ लगाते हैं। कोई कहते हैं कि ईश्वरने बनाया, कोई कहते कि यहाँ पहिले समुद्र ही था, सूर्य ही था, फिर वह पानी हट गया, पृथ्वी पैदा हुई, फिर उसी समुद्रके जो जानवर थे वे ही विकासको प्राप्त होकर पक्षी बने, पशु बने फिर मनुष्य हो गए। कोई कुछ कहते कोई कुछ, पर यथार्थ बात यह है कि यह लोक किसीके द्वारा बनाया गया है ही नहीं, यह तो अनादि निधन है, चला आया है। कल्पना करो आप लोगोंका कोई पिता तो है ही, पिता बिना तो आप पैदा नहीं हुए, उस पिताका भी कोई पिता होगा यों ही लगाते जावो, कोई पिता ऐसा न मिलेगा जो बिना पिताका हो। तो पिताकी परम्परा जब सोचते हैं तो मालूम होता है कि यह प्रारम्भसे ऐसा ही चला आया है। किसे बतायें कि सबसे पहिले पिता कौन था जिसके बाप ही न हुआ हो। आज जो वृक्ष खड़ा है यह किसी फलसे ही तो पैदा हुआ और वह फल वृक्षसे वह वृक्ष फलसे। तो जैसे वृक्ष और बीजकी यह परम्परा अनादिसे है ऐसे ही यह समस्त लोक समस्त पदार्थ अनादिसे बने हुए हैं। दूसरी बात यह सोचो कि कोई पदार्थ बनता है तो कुछ था पहिले उससे ही तो बना। घड़ा बना तो पहिले मिट्टी तो थी। कुछ भी चीज बने तो असतसे नहीं बनती। कुछ सत्त्व हो उससे बनती है। तो नया सत कभी उत्पन्न नहीं होता। जो ही नहीं कुछ और हो जाय कुछ, ऐसा तो होता ही नहीं है। तब जितने जा कुछ भी पदार्थ हैं, हम आपको दिखते हैं वे सत् हैं और अपने आप सत् हैं, अनादिसे वे सत् हैं, और पदार्थके समूहका ही नाम लोक है, जगहका नाम लोक नहीं। जगह भी एक पदार्थ है। परपदार्थोंके समूहका नाम लोक है, इस लोकको किसीने उत्पन्न

लोकका आकार—लोककी रचना, एक सीधे ढंगसे समझना चाहे तो ऐसा ख्याल करे कि ७ लड़के बराबरीके एकके पीछे एक खड़ा हो और वे सातों लड़के पैर फैलाये हो और कमर पर हाथ रखे हों तो जो शकल उस समय उस बालसेनीकी बनती है वही सकल लोककी है। जैसे मान लो एक लड़का जितना ऊँचा है उस ऊँचाईके १४ भाग करो, मान लो १४ राजू ऊँचा लोक है तो इतनी ही ऊँचाई उन बालकोंकी है और जितना लम्बा बालक है, उससे आधी चौड़ाई उसके पैर फैले हों तो मानो ७ राजू नीचे चौड़ा है, नीचे सब जगह टेहुनीके पास सात-सात राजू हैं, क्योंकि ७ बालक खडे हों तो सामनेसे देखने पर यों दिखेगा कि सामनेसे ७ राजू है और ऊपर घटते-घटते एक राजू रह गया, फिर बढना शुरू हुआ। तो कुछ बाहर चलकर ५ राजू हो गया जहाँ तक कि टेहुनी है और ऊपर घटते-घटते एक राजू रह गया। सामनेसे तो यों दिख रहा है पर बगलसे देखो तो सब जगह ७-७ राजू है? तो यह तो है लोककी रचना। अब इस लोकके अन्तिम भागमे क्या है? कैसे यह लोक सधा हुआ है तो उस लोकके अन्तिमभागमें सर्वत्र चारों ओर ३ प्रकारकी हवायें हैं उन हवाओंका नाम है घनवातवातवलय। घनोदधिवातवलय, तनुवातवलय। लोकके बिलकुल अन्त मे पतली हवा है, फिर मझोली फिर उसके भीतर खूब दृढ़ हवा है, तो इन हवाओंका फैलाव है। हवाएँ ३ प्रकारकी हैं जिनसे यह लोक सधा हुआ है। इसके आकारको हम ताड वृक्षके आकारसे तुलना कर सकते हैं। जैसे ताड़का वृक्ष नीचे तो चौड़ा रहता है फिर घटकर पतला हो जाता है फिर बढता है और फिर अन्तमें ऊपर घट जाता है। इस प्रकारके आकार वाला यहलोक है।

लोकसमागमके यथार्थ निर्णयसे विषादका अनवकाश—आजकलके लोग जितनी दुनिया मानते हैं वह दुनिया तो यों समझिये कि जैसे लाख कोश की जमीनके बीच एक पानीका बूँद पड़ा हो उतनी बड़ी है, लोक तो इस परिचित दुनियाका अनन्त गुना है, उस लोकके प्रत्येक स्थानपर हम आप हो आये हैं, और इस लोकमें जितने भी समागम हैं सब समागम कई बार मिल चुके हैं। जगतमें जितने जीव हैं वे सब जीव मित्र बन चुके, वे सब जीव शत्रु बन चुके जिसे आज हम शत्रुके रूपमे देखते हैं वह कितने ही बार मित्र रह आया है और जिसे आज मित्रके रूपमे देखते हैं वह कितने ही बार हमारा शत्रु रह आया है, और वास्तवमे न कोई शत्रु है और न मित्र है, लेकिन समागम सबका अनेक बार हुआ। तो ऐसा जानकर यह ख्याल करो कि वर्तमानमें जो भी समागम मिले हैं वे सब भी हमारे कुछ नहीं हैं, ऐसे-ऐसे समागम तो अनेक भवोंमें मिलते आये हैं, बिछुड़ते

और अज्ञानवश भ्रमता चला आया है। इस जीवसे सदाके लिए शरीर और ये कर्म छूट जायें इसका कोई उपाय है मूलमें तो वह भेदविज्ञान है। हम अपने को सबसे जुदा समझलें तो ये शरीर और कर्म जुदे हो जायेंगे। हम तो करें परद्रव्योंसे प्रीति और चाहें कि इनसे छुटकारा हो जाय तो कैसे छुटकारा हो जायेगा? यह लोक है, अनेक पदार्थोंका समागम है यह सब एक मेलेकी तरह है। आज आये कल चले जायेंगे, सदा कोई ठहरने का नहीं है, यह बड़ा विवेक है जो ऐसा मानता रहे कि मेरा तो देह भी नहीं, मेरा तो मात्र मैं आत्मा हू। इस मान्यतामें मरणका भी भय नहीं रहता। कभी ऐसी स्थिति आ जाय कि जिसमें ऐसा लगे कि अब तो हमारा मरण होने वाला है। अरे तो मरण होने का नाम क्या है? इस देहको छोड़कर चले गए, देहको छोड़कर चले जायें तो इसमें हमारा नुकसान क्या हुआ? चले गए, बल्कि देह पुराना हो गया था, बड़े दु:खका कारण था, अब इसे छोड़कर जा रहे हैं, अब कोई नया देह मिलेगा तो इसमें नुकसान क्या हुआ? यह सब घर वैभव छूटा जा रहा है, बहुत चावसे दुमंजिला तिमंजिला मकान बनवाया, बड़े ठाठका रहन सहन था, अब एकदम यहासे जाना पड रहा है। अरे जाना पड़ रहा तो क्या हानि है? समतासे जाय तो यहाँसे भी बढ़िया कीमती मकान वैभव मिलेगा और मिले या न मिले, यहाँ भी क्या मिला था, केवल मिलने की कल्पना ही तो कर रहे थे। यह तो जैसा अकेला था वैसा ही है, वही अकेलापन रहेगा। तो अपने को सबसे निराला अकेला ज्ञानस्वरूप समझने से इस जीवको शान्ति मिलती है, आनन्द मिलता है और वास्तविक बात भी यही है, जो छूटा तो जा ही रहा है यह सब, पर छूटा जा रहा है तो छूटने दो, जब तक पासमें है तब तक भी मेरा नहीं है, मेरा तो मात्र मैं आत्मा हू ऐसी भावना बने तो समझो कि हमारी लोकभावना सफल है।

लोकभावनासे स्फुट शिक्षायें--इस भावनामें हम कोई शिक्षा ग्रहण करें तो प्रथम तो यह कि इस लोकमें कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहा अनन्त बार जन्म मरण न हुआ हो, फिर क्षेत्रका क्या लालच करना? दूसरी बात यह समझिये कि यहा जो कुछ भी समागम मिला है यह समागम तो अनेक बार मिल चुका था और जो भी वैभव मिला है इसे तो अनेक बार भोग चुके थे। यह कोई अनूठी सम्पदा नहीं है और फिर सदा रहने वाले भी नहीं, क्षणिक आये हैं, विघट जायेंगे। तो जो क्षणिकमें विघट जाय ऐसी सम्पदामें ममता करने से क्या लाभ है? बड़ा विवेक चाहिए, ज्ञानी पुरुषके बहुत बड़ा साहस होता है। जगत चाहे किसी रूप

नहीं किया, वह तो अनादि निधन है।

तीन वातवलयोके आधारपर लोककी स्थिरता—कोई पुरुष ऐसा मानते हैं कि इसे बनाया तो किसी ने नहीं, किन्तु इसको कोई थामे हुए है। कोई मानते कि यह पृथ्वी कीली पर थमी है, कोई कहते कि यह पृथ्वी शेषनाग पर थमी है परन्तु थमी किसी पर नहीं है। इस पृथ्वीके चारों ओर जो तीन प्रकारकी हवा है उस हवा पर यह सब सधा हुआ है। एक ठेलेमें ढाई तीन सौ मनका भार लादा जाता है, और वह ठेला रखा है पहियों पर। पहियोंमें है क्या? हवा। तो हवामें कितनी शक्ति है' जरा अदाज तो करो, कहने को तो यों लगता है कि हवा है, हवामें क्या शक्ति है? और देख लो मोटर ठेलोंके पहियोंमें हवा भरी रहती है तो बहुत बोझा होने पर भी वे पहिया नरम नहीं होते। तो हवामें कितना ही भार झेलने की सामर्थ्य है, फिर यह तीन लोकके भारको झेलने वाली सामान्य हवा नहीं है, यह हजारों धनुषसे मोटी हवा है। उस हवा पर यह लोक सधा हुआ है, इसे किसीने भी रख नहीं रखा है। कोई लोग मानते हैं कि यह लोक कछुवेकी पीठ पर है, जो कक्षप अवतार मानते हैं वे मानते हैं कि कछुवापर यह पृथ्वी सधी है। उनको यह जंचा कि कछुवे की पीठ बड़ी कड़ी होती है उस पर कितना ही वजन रख लो। कछुवा अपनी चोंच अगर भीतर डाल ले तो फिर कितने ही डडे मारो उसको कुछ असर नहीं होता। उसका जो गला निकला रहता है वह बहुत कोमल होता है, उसमें जरा सा भी घात हो जाय तो मरने की नौबत है। तो कछुवे की पीठ बहुत दृढ़ होती है। पुराने समयमें लोग कछुवे की पीठकी ढाल बनाते थे जिस पर तलवार चले तो असर नहीं होता। सोचा कि ऐसा कौनसा जानवर है जो अपनी पीठ पर इतनी बड़ी जमीन लादे हुए है, कोई लोग मानते हैं कि कछुवेकी पीठ पर यह लोक सधा है। कुछ लोग मानते हैं कि यह लोक शेषनागके फनपर ठहरा है, पर यह उनका कोरा भ्रम है, यह तो स्वयं सत् है, किसी जानवर पर नहीं सधा है। तीन तरहकी हवा है उस पर सधा हुआ है और इसका आधार कुछ है ही नहीं, ऐसी तर्कणा क्यों करते हो कि बिना आधारके यह लोक आकाशमें कैसे ठहरेगा, भग्न हो जायेगा। भग्न नहीं होता, निराधार है, वह तो आकाशमें वातवलयों के आधार पर स्वयं अपने आप ठहरा हुआ है, यह है लोक।

आत्मज्ञान बिना लोकमें भ्रमण व शान्तिका अभाव—इस लोकमें यह जीव अपने आत्माका ज्ञान न पानेसे अब तक भ्रमण करता आया है। इस लोकमें कितने प्रकारके शरीर हैं उनको गिनाया नहीं जा सकता। असंख्याते प्रकारके शरीर हैं, उन सब शरीरोंमे यह जीव जन्म ले चुका है

आये हैं, जो अपने जीवनमें मिले हुए समागमोंमें राग,बनायेगा, स्नेह बढ़ायेगा यह तो निश्चित है कि जो कुछ मिला है उसका वियोग जरूर होगा, किसीके टाले नहीं टल सकता वियोग। पर जब वियोग होगा तो कितना दुःख उठाना पडेगा इस रागीको। तो वियोगके समयमें हमें क्लेश न हो ज्यादा, इसका अभ्यास अभीसे करना चाहिए। जब तक संयोग है, समागम है तब तक भी भावना बना लें, मेरा कहीं कुछ नहीं है। मेरा तो मात्र मैं आत्मा हू, यह है आत्माकी असली कमाई। जो यह भाव भरता रहे कि मेरा मात्र मैं हू उसकी असली कमाई है। जिनका समागम हुआ है उनका जब वियोग होगा तो उस भावनाके कारण पहिलेसे अभ्यास है ना। इस वजहसे दुःख न होगा।

निष्पादित स केनापि नैव नैवोद्धतस्तथा।
न भग्न किन्त्वनाधारो गगने स स्वयं स्थितः ॥२२४॥

लोककी अनादिनिधनता—अनेक पुरुष इस लोककी रचनाके सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ लगाते हैं। कोई कहते हैं कि ईश्वरने बनाया, कोई कहते कि यहाँ पहिले समुद्र ही था, सूर्य ही था, फिर वह पानी हट गया, पृथ्वी पैदा हुई, फिर उसी समुद्रके जो जानवर थे वे ही विकासको प्राप्त हो कर पक्षी बने, पशु बने फिर मनुष्य हो गए। कोई कुछ कहते कोई कुछ, पर यथार्थ बात यह है कि यह लोक किसीके द्वारा बनाया गया है ही नहीं, यह तो अनादि निधन है, चला आया है। कल्पना करो आप लोगोंका कोई पिता तो है ही, पिता बिना तो आप पैदा नहीं हुए, उस पिताका भी कोई पिता होगा यों ही लगाते जावो, कोई पिता ऐसा न मिलेगा जो बिना पिता का हो। तो पिताकी परम्परा जब सोचते हैं तो मालूम होता है कि यह प्रारम्भसे ऐसा ही चला आया है। किसे बतायें कि सबसे पहिले पिता कौन था जिसके बाप ही न हुआ हो। आज जो वृक्ष खड़ा है यह किसी फलसे ही तो पैदा हुआ और वह फल वृक्षसे वह वृक्ष फलसे। तो जैसे वृक्ष और बीजकी यह परम्परा अनादिसे है ऐसे ही यह समस्त लोक समस्त पदार्थ अनादिसे बने हुए हैं। दूसरी बात यह सोचो कि कोई पदार्थ बनता है तो कुछ था पहिले उससे ही तो बना। घड़ा बना तो पहिले मिट्टी तो थी। कुछ भी चीज बने तो असतसे नहीं बनती। कुछ सत्त्व हो उससे बनती है। तो नया सत कभी उत्पन्न नहीं होता। जो है ही नहीं कुछ और हो जाय कुछ, ऐसा तो होता ही नहीं है। तब जितने जा कुछ भी पदार्थ हैं, हम आपको दिखते हैं वे सत् हैं और अपने आप सत् हैं, अनादिसे वे सत् हैं, और पदार्थके समूहका ही नाम लोक है, जगहका नाम लोक नहीं। जगह भी एक पदार्थ है। परपदार्थोंके समूहका नाम लोक है, इस लोकको किसीने उत्पन्न

प्रवर्ते किन्तु ज्ञानी जीव अपने साहसको नहीं छोड़ता, ज्ञानीमें भय उत्पन्न नहीं होता, जो होता है उसका मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहता है। तो यह शिक्षा लेना है लोकभावना भाकर कि हम संयोगके कालमें भी पदार्थोंमें राग न करें, यथार्थ बात जानते रहें कि मेरा तो यहाँ कुछ भी नहीं है। मेरा ही स्वरूप मेरा है जो मुझसे कभी अलग न हो। अब लेते जाइये, यह वैभव तो प्रकट अलग हो जाता है, अलग भी दिख रहा है। यह देह भी अलग होगा, ऐसा हमने अनेकोंका देखा है। अनेक लोग मर गए, पर यह देह साथमें कभी नहीं गया। लोग इस देहको देखकर सजीव अवस्थामें प्रेम और मोह करते हैं, जीवके निकल जाने पर इस देहको निठुर होकर जला डालते हैं। उसमें निठुरताकी क्या बात, उसे समझ रहे हैं कि यह तो निर्जीव है, तो देह भी मेरा नहीं, वैभव मेरा नहीं और कर्म मेरे नहीं, कामादिक विकार मेरे नहीं, मैं तो केवल एक ज्ञानानन्दस्वरूप हू ऐसी दृष्टि आये तो हमारी बारह भावनाएँ सफल हैं।

लोकस्वरूपका पुनः स्मरण —लोकभावनामें लोकका स्वरूप दिखाया जा रहा है, न इसे किसीने बनाया, न किसी ने अपने कंधे पर धरा और न यह कभी भग्न हुआ। न गिरा न मिटा, आधार भी कुछ न था, पर हाँ आधार सबसे बड़ा है तो तीन प्रकारके वातवलयोंका है। उन वातवलयों के आधार पर यह लोक टिका हुआ है जहां पर जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये ६ प्रकारके द्रव्य रहते हैं, ऐसी लोक की भावना करके लोकका विचार करके हम ऐसी प्रतीतिमें लेते रहें, कि इस लोकमें कहीं भी कुछ भी सार वस्तु नहीं है। मेरा सार तो मुझमें मैं ही है, इसलिए इस ही ज्ञानानन्दस्वरूपकी भावना करना चाहिए।

अनादिनिधनः सोऽयं स्वयंसिद्धोऽप्यनश्वरः।
अनीश्वरोऽपि जीवादिपदार्थैः संभृतो भृशम् ॥२२५॥

लोककी स्वयसिद्धता—यह लोक अनादिनिधन है अर्थात् कालकी अपेक्षा न इस लोकका आदि है और न अन्त है। अनादिनिधन जो भी होगा वह स्वय सिद्ध हुआ करता है। समस्त पदार्थ स्वयसिद्ध हैं, किसी भी पदार्थकी सत्ता किसी अन्यने उत्पन्न नहीं की। तो स्वयंसिद्ध पदार्थ का जो समूह है उसीका नाम लोक है। तो जब पदार्थ स्वयंसिद्ध हैं, तो लोक भी स्वयंसिद्ध हुआ और अनादि निधन हुआ। प्रत्येक पदार्थ चूँकि स्वतंत्र है, किसी भी पदार्थका कोई अन्य पदार्थ ईश्वर नहीं है, पदार्थमें यह स्वरूप ही पड़ा हुआ है, तो पदार्थोंका समूह यह लोक है, इसका भी कोई ईश्वर नहीं है अर्थात इसका भी कोई अधिकारी अथवा कर्ता नहीं है। समस्त पदार्थ अपने अपने अधिकारी हैं, अपने अपने सत्त्व

और अज्ञानवश भ्रमता चला आया है। इस जीवसे सदाके लिए शरीर और ये कर्म छूट जायें इसका कोई उपाय है मूलमें तो वह भेदविज्ञान है। हम अपने को सबसे जुदा समझले तो ये शरीर और कर्म जुदे हो जायेंगे। हम तो करें परद्रव्योंसे प्रीति और चाहें कि इनसे छुटकारा हो जाय तो कैसे छुटकारा हो जायेगा? यह लोक है, अनेक पदार्थोंका समागम है यह सब एक मेलेकी तरह है। आज आये कल चले जायेंगे, सदा कोई ठहरने का नहीं है, यह बड़ा विवेक है जो ऐसा मानता रहे कि मेरा तो देह भी नही, मेरा तो मात्र मैं आत्मा हू। इस मान्यतामें मरणका भी भय नहीं रहता। कभी ऐसी स्थिति आ जाय कि जिसमें ऐसा लगे कि अब तो हमारा मरण होने वाला है। अरे तो मरण होने का नाम क्या है? इस देहको छोड़कर चले गए, देहको छोडकर चले जायें तो इसमें हमारा नुक्सान क्या हुआ? चले गए, बल्कि देह पुराना हो गया था, बडे दु खका कारण था, अब इसे छोड़कर जा रहे हैं, अब कोई नया देह मिलेगा तो इसमें नुक्सान क्या हुआ? यह सब घर वैभव छूटा जा रहा है, बहुत चावसे दुमजिला तिमजिला मकान बनवाया, बडे ठाठका रहन सहन था, अब एकदम यहासे जाना पड रहा है। अरे जाना पड़ रहा तो क्या हानि है? समतासे जाय तो यहाँसे भी बढिया कीमती मकान वैभव मिलेगा और मिले या न मिले, यहाँ भी क्या मिला था, केवल मिलने की कल्पना ही तो कर रहे थे। यह तो जैसा अकेला था वैसा ही है, वही अकेलापन रहेगा। तो अपने को सबसे निराला अकेला ज्ञानस्वरूप समझने से इस जीवको शान्ति मिलती है, आनन्द मिलता है और वास्तविक बात भी यही है, लो छूटा तो जा ही रहा है यह सब, पर छूटा जा रहा है तो छूटने दो, जब तक पासमें है तब तक भी मेरा नहीं है, मेरा तो मात्र मैं आत्मा हूँ ऐसी भावना बने तो समझो कि हमारी लोकभावना सफल है।

लोकभावनासे स्फुट शिक्षायें—इस भावनामें हम कोई शिक्षा ग्रहण करें तो प्रथम तो यह कि इस लोकमे कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहा अनन्त बार जन्म मरण न हुआ हो, फिर क्षेत्रका क्या लालच करना? दूसरी बात यह समझिये कि यहा जो कुछ भी समागम मिला है यह समागम तो अनेक बार मिल चुका था और जो भी वैभव मिला है इसे तो अनेक बार भोग चुके थे। यह कोई अनूठी सम्पदा नहीं है और फिर सदा रहने वाले भी नहीं, क्षणिक आये हैं, विघट जायेंगे। तो जो क्षणिकमें विघट जाय ऐसी सम्पदामें ममता करने से क्या लाभ है? बड़ा विवेक चाहिए, ज्ञानी पुरुषके बहुत बड़ा साहस होता है। जगत चाहे किसी रूप

शत्रु के रूपमें हो, जिसे आज हम पुत्रके रूपमें मानते हैं, परभवमें या इसी भवमें आगामी कालमें शत्रुताका भी रूप वह रख सकता है। कषाय की तो बात है। जब कषाय जग जाये तब ही विरोधी बन जाता है जीव। इसही भवमें बडे उपकारीकी भी आन खो देता है यह जीव। जब कषाय का उदय होता है तो विनय सब खतम हो जाता है। उसे कितना लाड़-प्यारसे पाला, कितना उसे चतुर बनाया, पर उन सारे उपकारों पर वह पानी फेर देता है। किसी भी पदार्थका कोई अन्य अधिकारी नहीं है।

लोकके विषयमे लोगोंकी कल्पना—पदार्थका समूह ही यह लोक है तो लोकका भी कोई अधिकारी नहीं है। लोक कुछ अलग चीज नहीं है। जैसे लोग कहा करते हैं, संसारमें अनेक मनुष्य हैं तो संसार कुछ अलग हुआ, मनुष्य कुछ अलग हुए। जैसे व्यवहारीजन अपने मनमें आशय रखते हैं, लो यह तो है संसार, जो पोलसी दीख रही है और यह है मनुष्य। छहों द्रव्योंका जहा तक निवास है, जो पिण्ड है उसीका नाम लोक है। तो यह लोक जीवादिक पदार्थोंसे खूब ठस भरा हुआ है। लोककी रचनाके सम्बन्ध में अनेक लोग अनेक कल्पनाएँ करते हैं। कोई कहता है कि यह पृथ्वी नारंगीके समान गोल है चारों ओरसे और पृथ्वी घूमती है, सूर्य स्थिर रहता है और उसमें भी अनेक प्रकरण ऐसे ढूंढ निकाले गए हैं कि कुछ हिस्सा पृथ्वीके ऊपर बसा है, कोई देश पृथ्वीके नीचे बसे हैं, एक जगह दिन जब होता है तो उसी समय दूसरी जगह रात होती है। इन सब बातोंसे यह विदित होता कि पृथ्वी नारंगीकी तरह गोल है और भी कल्पनाएँ लोग करते हैं किन्तु जैन सिद्धान्तमें जो बात प्रतिपादित है वैज्ञानिक जन उसके आधार पर खोज करें तो बड़ी सफलता मिलेगी। आविष्कारक लोगोंकी थोड़ी इस ओर दृष्टि नहीं है, और जिनकी दृष्टि है, जिन्हें ज्ञात है वे आविष्कारके क्षेत्रमें नहीं हैं और जो आविष्कारके क्षेत्रमें हैं उनकी इस ओर दृष्टि नहीं दिलायी जाती। यदि उन्हें इस ओर दृष्टि दिलायी जाय तो वे विदित करेंगे कि यह समस्त पृथ्वी एक ओर थालीके समान समतल है और जम्बू द्वीप इस मध्य लोकके बीचमें जो गोल-गोल है उसके एक किनारे भरत क्षेत्र है, उसमें ५ खण्ड हैं, उनमें से जो एक आर्य खण्ड है उस आर्य खन्डमें ही आजकी सारी दुनियां एक कोनेमें समायी हुई है।

पृथ्वीके गोलका कारण—यह पृथ्वी गोल है ऐसा उनमें विकल्प क्यों हुआ? उसका कारण यह है कि इस हुडावसर्पिणी कालमें यह पृथ्वी केवल आर्य खण्डमें मल बन गयी है और यह पृथ्वी करीब ४ हजार कोश ऊँची समतलसे उठ गई है तो इतनी ऊँची उठ जानेसे गोल बन गया और यों

से पूर्ण हैं। अभाव ४ प्रकारके बताये गए हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। यह अभावकी व्यवस्था भी इस बातको बताती है कि प्रत्येक पदार्थमें अपने ही पर्यायोंकी अपेक्षा तो उत्पाद व्यय है, अपने ही में अपनी पर्यायोंका आगमन निर्गमन है, किन्तु किसी भी अन्य पदार्थका किसी अन्य पदार्थमें आगमन नहीं है।

अभावोंका भाव—अभाव ४ प्रकारके बताये हैं, ये अभाव सभी सद्भाव रूप हैं। वस्तुकी जो पहिली पर्याय है उस पहिली पर्यायमें उत्तर पर्यायका अभाव है इसलिए पहिली पर्यायका ही नाम प्रागभाव है। किसी भी वस्तुकी पहिली पर्यायमें उत्तरपर्यायका अभाव है। प्रध्वंसाभावका अर्थ है वर्तमान पर्यायोंका विनाश होने पर जो अभाव हुआ है, अर्थात् आगामी कालमें पूर्व पर्यायका अभाव होना, जैसे घड़ा फूटकर खपरियां बन गई तो खपरियोंकी अवस्थामें घटका प्रध्वंसाभाव है। इन दो अभावोंसे यह उत्पाद और व्ययकी सिद्धि मानी जा सकती है। तीसरा अभाव है अन्योन्याभाव, जो द्रव्य द्रव्यका तो नहीं है, अत्यन्ताभाव तो नहीं है, पर जो कभी बन सकता है किन्तु इस समय नहीं है वह अन्योन्याभाव है। जैसे घड़ा और कपड़ा ये दो व्यक्तियां हैं किन्तु घड़ा कभी कपड़ा बन सकता है, कपड़ा कभी घड़ा बन सकता है किन्तु अत्यन्ताभावमें तो त्रिकाल अभाव है, जीवमें पुद्गलका त्रिकाल अभाव है, पुद्गलमें जीवका त्रिकाल अभाव है और इतना ही नहीं, द्रव्य दृष्टिसे प्रत्येक जीवमें त्रिकाल प्रत्येक जीवका अभाव है। समस्त पुद्गल आदिकका अभाव है, प्रत्येक परमाणु में अन्य समस्त परमाणुओंका अभाव है, समस्त जीवादिकका अभाव है।

अभावके परिज्ञानसे प्राप्तव्य शिक्षा—यह अभावकी दृष्टि हमें यह शिक्षा देती है कि किसी भी पदार्थका कोई अन्य पदार्थ ईश्वर नहीं है। जरा अपने आपके स्वरूप पर भी ध्यान दो, हम जब कभी भी दुःखी होते हैं तो कल्पनाएँ बनाकर दुःखी हुआ करते हैं। दूसरे लोग तो किसी भी दूसरे को देखकर यह समझते हैं सीधे तौरसे कि इसे कोई भी क्लेश नहीं है, पर यह अपने ही मनमें कल्पनाएँ बना बनाकर दुःखी होता रहता है? दुःखी होनेकी जरूरत क्या थी, किस बात पर दुःखी हुआ जा रहा है। वैभवकी बात यह है कि चाहे बहुत हो चाहे थोड़ा हो, छोड़कर सब जाना है। रही यह बात कि लोग सोचते हैं कि हमारे संतानको तो वैभव मिल जायेगा, तो मरने पर कौन किसका सतान है? यहाँ लोकव्यवहारमें भी थोड़ी कल्पना करके मानते हैं अन्यथा बताओ आपके पूर्व भवके माता-पिता, पुत्र कहाँ है? अथवा पूर्व भवके वैभवसे आपका अब कुछ सम्बन्ध रहा क्या? जो जीव पूर्व भवमें पुत्र रहा होगा कहो वही जीव आज कहीं

इन सब बातोंका ज्ञानी जीवको किसी भी रूपमें प्रत्यक्ष रूपमें परोक्ष रूप में जब यथार्थ परिचय होता है तो उसके विह्वलता नहीं जगती। जैसे मोही पुरुष किसी इष्टके वियोग होने पर ऐसा मानते हैं कि हमारी तो दुनिया ही लुट गयी, अब मैं कुछ भी नहीं रहा, मेरा जीना बेकार है और कितने ही लोग तो इस वियोगसे दुःखी होकर आत्मघात भी कर डालते हैं, किन्तु ज्ञानी जीवको तो सर्वविदित है। क्या था। कोई यह भी मायारूप था जिसका वियोग हो गया जीव द्रव्य था, शरीरके स्कंध थे, कर्मोंकी वर्गणायें थीं, उन सबका वह पिण्ड था, असमानजातीय द्रव्य पर्याय था, उस पर भी अलग-अलग द्रव्योंपर विचार करें तो उस जीवसे तो कोई वास्ता नहीं, वह तो अमूर्त है, चेतन है, नामरहित है, उससे तो व्यवहार ही नहीं बनता और कार्माणवर्गणाओंसे व्यवहार क्या और शरीर स्कंधसे व्यवहार क्या, अचेतन है तो फिर अब कर क्या रहा था उस इष्टके साथ, कुछ नहीं कर रहा था, अज्ञान कर रहा था मूढ़ताका विकल्प कर रहा था। मोही जीव इष्ट वियोगमें विह्वल रह रहकर अपना सारा जीवन खो देता है। यदि सुख चाहिए, शान्ति चाहिए तो सभी पदार्थोंका यथार्थ निर्णय रखना चाहिए, यह है सबसे उत्कृष्ट बुद्धि हम आप लोगोंकी। बाह्य चीजोंसे क्या प्रयोजन ? बाह्य वैभव है फिर भी दुःखी और बाह्य वैभव नहीं है कोई ज्ञानी है तो वह सुखी है। सुख शान्तिके लिए बाह्य वैभवके सचयकी धुन तो न रखें, उससे कुछ सिद्धि नहीं होनेकी है, बल्कि महान् अनर्थ अन्तमें यह होगा कि मरते समय जब कि सब चीजें छूट रही हैं तो यह बड़ा क्लेश करेगा, हाय मैंने रात दिन जी तोड़कर इतना धन कमाया, इतना वैभव जोड़ा और यह साराका सारा एक साथ छूटा जा रहा है। उसकी विह्वलता दूसरे क्या समझें ? तो कुछ दृष्टि इस ज्ञान विकासकी रहना चाहिए।

अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याज्झल्लरीनिभः।
मृदङ्गसदृशश्चाग्रे स्यादित्थं स त्रयात्मकः ॥२२६॥

लोकका आकार—लोकका आकार कैसा है ?-इसका स्पष्टीकरण इस श्लोकमें किया है। यह लोक ३ भागोंमें बाँट लीजिए, किसी भी चीजके तीन भाग किए जायेंगे तो उनका क्या नाम है ?-अधोभाग, मध्यभाग और ऊर्ध्व भाग। इस लोकके तीन भाग हैं अधो भाग, मध्य भाग और ऊर्ध्वभाग। इसमें अधोलोक तो है वेत्रासनके आकार, मूढ़ाके आकार, अर्थात नीचे तो चौड़ा है और ऊपर सकरा हो गया है। लोक रचनाको शीघ्र जाननेके लिए यह उपाय बड़ा अच्छा है कि ७ बालक एकके पीछे एक खड़े कर दिये जायें और वे सातोंके सातो पैर पसार कर कमर पर हाथ रखकर खड़े हों तो

समझिये कि अर्द्ध गोलसा उठा बना लिया। यह मलमा भ। ऐसी विचित्र बना है कि मूलमें घेरा थोड़ा लेकर उठा है और बीचमें घेरा अधिक हो गया है। अब इतनी पृथ्वी ऊँची उठ जानेसे सूर्यका जो उदय होता है वह एक ओरसे निकले तो जिस ओरसे सूर्य है उस ओर दिन रहा तो दूसरी ओर अंधेरा सा रहा, यों सभी प्रश्नोंका समाधान मिलेगा, लेकिन वे वैज्ञानिक लोग इस दृष्टिको लेकर कुछ निरीक्षण करें तो बात यह है जैसे रेलमें बैठे हुए लोगोंको जो बड़ी सावधानीसे चल रही है, जिसमें हिलना डुलना नहीं है, ऐसा लगता है कि ये पेड़ खूब तेजीसे जा रहे हैं और अपने आपकी स्थिरता मालूम होती है। नावमें भी यही हिसाब रहता है। तो चाहे कल्पनाओंसे सूर्यको चलना मानें अथवा पृथ्वीका चलना मानें, सूर्यको स्थिर मानें तो भी ज्योतिषका हिसाब सही बैठ जायेगा। कल्पना की तो बात है और पृथ्वी स्थिर है, सूर्य चलता है, यों निरख करें तो भारतमें प्रारम्भसे ज्योतिष बना हुआ है। लोकके विषयमें अनेक कल्पनाएं लोग करते हैं लेकिन अनन्त तीर्थङ्करोंकी परम्पराकी व्याख्यान चला आया हुआ यह लोकका निरूपण एक बहुत विशाल है और लोकके निरूपणके सम्बन्धमें तो एक बड़ा शास्त्र विस्तार है।

जीवादि पदार्थोंसे पूर्ण लोक—यह लोक जीवादिक समस्त पदार्थोंसे गाढ भरा हुआ है। इस लोकमें ऐसा कोई प्रदेश नहीं बचा जहाँ मैं अनन्त बार उत्पन्न न हुआ होऊँ। इस लोकमें ऐसा कोई समागम नहीं बचा जो हमने पाया न हो, इस लोकमें ऐसा कोई भोगनेको अणु नहीं बचा जिसे हमने अनेक बार भोगा न हो। लेकिन मोहकी विचित्र लीला है कि जो कुछ आज मिला है वह प्रकट असार है, क्लेशका ही कारण है लेकिन हम ही असार वैभवमें इतनी तीव्र ममता लगाये हुए हैं कि सर्व बाह्य विकल्पों से उठकर एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वके अनुभवमें उत्साह नहीं जगता। ऐसा मूर्छाका रंग जगतके जीवोंपर बना हुआ है कि लोक भावना से हम यही तो शिक्षा लें कि अब मुझे इन लौकिक समागमोंसे कुछ प्रयोजन नहीं है। हमने जान लिया सब कुछ यथार्थ जो जैसा है। यह लोक अनादि निधन है, स्वयंसिद्ध है, अविनाशी है, इसका कोई कर्ता धर्ता ईश्वर नहीं है और ये जीव पुद्गल, धर्म अधर्म आकाश और काल ६ जातिके पदार्थोंसे भरा हुआ है।

अन्तर्द्वन्द्व क्षोभका मूल अज्ञानता—भैया! किसी भी तत्त्वका स्पष्ट ज्ञान हो तो अन्तरङ्गमें निर्भयता सी रहा करती है, निराकुलता रहा करती है, लेकिन जब यथार्थ ज्ञान नहीं होता तो अज्ञानके ही कारण इसके अन्त द्वन्द्व क्षोभ और एक बेसुधी सी बन रहती है। हम क्या हैं, कैसे हैं, क्या होंगे

लेकिन मरणसे पहिले जिसे कि मारणान्तिक समुद्घातमें कहते हैं कि जीव मरते समय एक बार जन्मस्थानमें भी पहुंच सकता है, फिर लौटकर शरीरमें आकर एकदम निकलता है। तो मारणांतिक समुद्घात हो किसी त्रसका और उसे पैदा होना हो त्रसनालीसे दूर तो वह त्रस जीव बाहर हो आया ना फिर लौटकर फिर शरीरमें आकर एक साथ मरकर जायेगा। इससे भी त्रसनालीसे बाहर त्रस जीव रह सकते हैं। बाहरके स्थावर जीव का त्रसनालीमें त्रसपर्यायमें मानो जन्म होता है तो मरनेके बाद वह त्रस कहलाने लगेगा, सो यों भी बाहर त्रस रहा। वहां कोई स्पष्ट दिशामें त्रस बाहर नहीं रहते हैं।

समस्त लोकरचनाके मानका फल– ऐसा एक महान् लोक है जिस लोकमें हम आप निवास करते हैं। सारी लोक रचना जान लेनेसे मोहमें अन्तर आता है। किसका मोह करना ? लोक तो ऐसा है। तो इन सब भावनाओंका प्रयोजन है। मोह रागद्वेष ये दूर होना, और जिस प्रकार आत्माको समताका सुख प्राप्त होता हो उस प्रकरकी परिणति बने इसी के लिए बारह भावनाओंका चिन्तवन किया जाता है।

यत्रैव तन्तवः सर्वे नानागतिपु सस्थिताः।
उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते कर्मपाशवशंगताः ॥२२७॥

सभी जीवोंके स्वभावमें ऐक्य, पर विभावसे विविधता—जहां पर ये सब प्राणी नाना गतियोंमें स्थित होते हुए कर्मोके जालके वशीभूत होकर उत्पन्न होते हैं और मरते हैं वही तो यह लोक है। लोकमें क्या हो रहा है ? लोक में जीव नाना गतियोंमें जन्म लेते हैं, मरते हैं, सम्पन्न होते हैं, विपन्न होते हैं, यही सब जीवोंके लिए हो रहा है। एक स्थिति समान स्थिति जो भी होगी वह स्वभाव विकासकी होगी। स्वभावसे विपरीत जितने भी परिणमन हैं वे सब एक समान होते हैं, जैसे कोई सवाल दे तो उसका सही उत्तर जो होगा वह एक ही होगा और गलतियां जो होंगी वे नाना तरहकी होंगी। तो विकार जो होते हैं वे नाना प्रकारके, किन्तु जो स्वभाव का विकास है वह सबमें एक समान है। तो यहां लोकमें सब विभिन्नताएँ देखी जा रही हैं। यहा यहां चलने फिरने से त्यागियोंके लिए विहार कह लीजिए, गृहस्थोंके लिए पर्यटन कह लीजिए। तो चलना फिरना अनेक घटनाएँ जो दृष्टिमें आती हैं उन घटनाओंसे इस जीवको शिक्षा मिलती है और कुछ यह अपनी ओर झुकनेका भी भाव रखता है। अब देखिये बहुत बड़ा बोझ लदा है बुग्गीमें और भैंसा लादे चला जा रहा है और ऊपरसे बेदर्द होकर डंडे भी मारते जा रहे हैं और और भी दसों प्रकार की घटनाएं देखनेमें आती हैं, उसकी यह हालत देखकर क्यों दुःख होता

सारी लोकरचना बिल्कुल ठीक समझमें आ रहती है। यहाँ बया है, मानो ऐसा लोकरचनाका दृश्य बनायें, ७ बालकोंको खड़ा करके, यह तो हुआ पूरा लोक। अब बतलावो हम आप किस जगह रहते हैं? हम आप उस जगह रहते हैं कि इस लोकके चारों तरफ भी घूम करके देखें तो वह स्थान नहीं दिख सकता। इस सारे लोकके बीचमें एक त्रसनाली है। जैसे तीन लड़के पीछेके छोड़कर तीन आगेके छोड़कर बीचके बालकोंमें इसमें भी ठीक बीचमें मान लो कि जितनी चौड़ी गर्दन है उतने ही चौडे शरीरके बीच-बीचमें चौकोर एक आकार बना लीजिए।

त्रस नालीकी रचना—उतनी ही ऊँची वह त्रसनाली है, यह भी किसी ओरसे दिखेगा नहीं, और उस त्रसनालीके मध्यभागमें असंख्याते द्वीप समुद्रोंकी रचना है। उन असंख्याते द्वीप समुद्रोंके ठीक बीचमें जम्बूद्वीप है, उसके एक ओर भरत क्षेत्र, उसमें ५ खण्ड। आर्य खण्डके बीचमें है अपना सबका देश, यहां हम आप कितनीसी जगहमें रहते हैं, यों समझ लीजिए कि जितना उन सब लड़कोंका विस्तार बन गया है घेरा बन गया है, उस घेरामें एक सूईके नोक बराबर भी भाग नहीं बैठता जिस देशमें हम आप रहते हैं। तो उस रचनामें जो अधोलोक है अर्थात् नाभिसे नीचेका, कमर से नीचेका जितना हिस्सा है वह अधोलोक है, वह वेत्रासनके आकारका लगता है, और ऊपर जो नाभिसे ऊपर बचा हुआ है वह मृदंगकी तरह मालूम होता है। जैसे मृदंग दोनों तरफसे सकरा रहता और बीचमें मोटा रहता है, कुछ कुछ ढोल भी ऐसी होती हैं पर मृदंगमें बीचमें बहुत घेरा रहता है उसकी तरह मालूम होता है। और बीचमें जो मध्य लोक है वह झल्लरीकी तरह मालूम होता है, समतल है ऐसे ये तीन प्रकारके लोक इस आकार में स्थित हैं इस समस्त लोकमें जो एक त्रसनाली है उसमें ही त्रस जीव होते हैं और बाकी जितना बचा हुआ हिस्सा है आप उन ७ बालकों की रचनाओंसे लोकको निरख कर सोचते जाइये, जितना भी त्रसनालीसे बाहरका हिस्सा है उसमें केवल स्थावर जीव रहते हैं। स्थावर जीव त्रस-नालीमें भी हैं और त्रसनालीसे बाहर भी हैं। त्रसनालीके सिवाय अन्य जगह त्रस नहीं हैं और उन त्रसोंमें भी जो विकलत्रय हैं, कीड़ा मकौड़ा हैं वे तो सब इस मध्य लोकमें भी थोड़ी सी जगहमें पाये जाते हैं, ऊपर देव लोकका निवास है, नीचे नारकी जीवोंका निवास है।

त्रसनालीसे बाहर भी त्रसकी सम्भावना—स्थावर सब जगह हैं। त्रस-नालीसे बाहर कभी त्रस जीव अगर रहते हैं तो किस स्थानमें रहते हैं? इसे भी ध्यानमें लाना। कोई भी जीव मरकर यदि त्रसनालीसे बाहर जन्म धारण कर जाता है तो मरने के बाद तो वह स्थावर कहलाने लगेगा,

अनादिसे सिद्ध है। इस लोकको किसीने बनाया नहीं, पुराण है, न इस की उत्पत्ति होती है, न इसका विलय होता है। यह तो है चला आया है। जैसे ऋतुवें नई आती हैं पुरानी व्यतीत होती है फिर भी जो ऋतुवें आती है वे नई नई बन बनकर आती हैं, इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ संसारमे विनष्ट होता है, उत्पन्न होता है, प्रतिसमय नया-नया परिणमन इस लोक में होता है, कभी कभी विचित्र परिणमनसा लगता है। कभी वैसी ही बात वर्षोंसे चली आयी है, उसमें विचित्र परिवर्तन नहीं मालूम होता, किन्तु हैं प्रतिसमय परिणमता हुआ प्रत्येक पदार्थ, उन पदार्थोंसे भरा हुआ यह लोक है। यह लोक विश्वासके काबिल नहीं है। किस पदार्थका शरण गहते हो कि शरण मिल जाय। ये सभी मोही जीव है, अतएव मोही जीव जिन जिन बातोंमें लग रहे हैं दूसरे मोहियों को उन बातोंमें सार विदित होता है, पर वस्तुतः देखो तो सार कुछ नहीं है। सभी लोग वैभवकी बढ़वारीमें लग रहे हैं, लाख हों तो करोड़ की चाह, करोड़ हों तो अरब की चाह। जगतमें अगर इतना वैभव नहीं इकट्ठा कर सकते तो काहेका जीवन ऐसा मानते हैं, किन्तु सार कहीं नहीं है। मरणके बाद तो यहाँका कुछ भी लगार साथ नहीं जाता है, लेकिन आत्माका धर्म आत्माका संस्कार ज्ञान की दृष्टि जैसे बनाते बने, अगर इसे पुष्ट कर लीजिए तो यह साथ जायेगा। यह संस्कार आगे भी काम देगा, पर यहा का वैभव एक अणुमात्र भी काम न देगा। लेकिन सब मोह है। सबको यह सुहाता है तो दूसरा कुछ विवेक भी करे, थोड़ा ज्ञान भी हो तो भी वह फिसल जाता है और ज्ञानकी दृष्टिमें अपनेको नहीं लगा पाता है।

ज्ञानीकी चालसे अज्ञानी सर्वथा विपरीत--ज्ञानी और अज्ञानीकी चाल उलटी ही हुआ करती है। लोग क्या करते हैं वही हमें करना चाहिए ऐसा विचार विवेकपूर्ण नहीं है। किन्तु यथार्थ कर्तव्य क्या है ? वह हमें करना चाहिए यह विवेकपूर्ण बात है। सबके समुदायका नाम लोक है। हम आपको जितना समुदाय मिला है उतने को हम अपना लोक कह लें, हमारी दुनिया यह है। कहते भी हैं लोग। जितना कुटुम्ब हुआ, वैभव हुआ उस सबके संचयको कहते हैं कि हमारी दुनिया इतनी है, जिसे भी अपनी दुनिया माना, स्वरूपदृष्टि लगाकर देखो आत्माका उसमें कुछ नहीं बसा हुआ है, रंचमात्र भी नहीं है। रही बात यह कि जब मनुष्य जीवन मिला है तो खाये बिना तो काम नहीं चलता, यह भी ठीक है, पर यह मनुष्य खानेके लिए ही तो नहीं कमाता, खाने के लिए ही तो कुछ नहीं करता, यह तो अपने शौक बढ़ाता है और नाना प्रकारके आरामोंमे रहें तो अपनी शान है, इस प्रकारका भाव बनाया है।

है ? इसलिए दु:ख होता है कि यह भी जीव है, हम भी जीव हैं। जैसी वेदना हमें होती है वैसी ही वेदना इसके होती है, पर बेचारा भार लादे है, परतत्र है, उसको देखकर दया आती है। उसका कारण है कि समानताकी बात मनमें आयी। ऐसा ही तो मैं भी हू, यह भी जीव है, यों अनेक प्रकार के सम्बन्ध चित्तमें आते हैं जिनके कहनेमें तो देर लगती है पर विचारोंमें देर नहीं लगती। तो इन सब सम्बंधोंके कारण एक राग हो जाता है अपनी ओरके झुकावका। ऐसी घटना देखनेपर यह लगता कि किस लिए वैभव कमाना, किसलिए धन जोड़ना, किसलिए दुनियामें बहुत-बहुत अपना नाम चाहना, सारी बातें सब एक हो जाती हैं, पर जैसे कभी खुदपर विपत्ति आती है रोग हो गया कठिन या अन्य कोई विपदा आ गयी।

लोकमे सर्वत्र अशरण्यता—मरणासन्न अवस्था हो गई तो उस समय फिर इसे वैभवके जोड़नेकी नहीं पड़ती, कमाईकी नहीं मनमें आती है, सब असार जँचने लगता है। फिर उस समय किसीका मोह नहीं बसता है ऐसी प्राकृतिक बात है। कुछ भी विवेक हो जिसके उसकी बात है। तो अनेक तरहके विकार, अनेक घटनाएँ जहाँ जीव करते रहते हैं वही तो यह लोक है। यह लोक सारहित है। इस लोकमें कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है जिसका शरण मान लिया जाय, विश्वास किया जाय, जहाँ शान्ति और विश्राम मिल सके। लोकमें ऐसा कोई भी जीव नहीं है जिस जीवके निकट हम रहें जिसको हम आत्मसमर्पण कर दें तो अपना कुछ दु:ख दूर हो सके, ऐसा भी कोई जीव नहीं है। यह असारताकी अशरणताकी बात अनादिकालसे चली आ रही है। ऐसे इस लोकमें मौज मानकर रहना, बेहोश रहना, धर्मकी ओर दृष्टिपात न रहना, विषयोंके भोगमें रम जाना, यह तो कोई बुद्धिमानीका काम नहीं है।

पवनवलयमध्ये संभृतोऽत्यन्तगाढ,
स्थितिजननविनाशालिङ्गितैर्वस्तुजातै·
स्वयमिह परिपूर्णोऽनादिसिद्ध पुराण·।
कृतिविलयविहीन· स्मर्यतामेष लोकः॥२२८॥

प्रति समय परिणमते हुए लोकमे एकमात्र साथी धर्म—इस लोकमें इस प्रकारका स्मरण कीजिए कि यह लोक तीन वातवलयोंके भीतर स्थित है। यह लोक अनेक वस्तुओंके समूहसे व्याप्त है। प्रत्येक पदार्थ जहाँ प्रत्येक समय बनता है, बिगड़ता है और बना रहता है। यह लोक अपने आप परिपूर्ण है, अधूरा नहीं है। ऐसा नहीं है कि किसीने बनाया हो और कुछ अधूरा रह गया हो, सो नहीं है। यह समस्त सतोंका समूह है इसलिए यह भी सत्‌रूप है। जो सत् होता है वह परिपूर्ण ही होता है। यह लोक

व्यवसाय।

आत्माकी भावनामें निराकुलताका मार्गपना—लोग भले ही कहेंगे जो मोहीजन हैं कि इसके दिमागमें कुछ फितूर आ गया है क्या ? जो अच्छे लोग होते है पेन्ट कोट वाले होते हैं वे तो ऐसा नहीं किया करते। भले ही मोहीजन इस प्रकार सोचलें पर सोचने दो, वे अपने रक्षक नहीं, वे अपने अधिकारी नहीं, उनके रखाये अपन रहते नहीं, अपनी दृष्टिसे अपना सब परिणमन बनाना चाहिए। तो इस लोकभावनामें यह बात बतायी गयी कि यह लोक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल द्रव्योंसे भरा हुआ है। एक ही जगहमें सभी द्रव्य मौजूद हैं। इस लोकके प्रत्येक प्रदेशपर जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल भी हैं। लोकमें सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभावको लिए हुए हैं और दूसरेके स्वरूपसे भिन्न रूपसे ठहर रहे हैं, क्षेत्रकी अपेक्षा यद्यपि वह जगह जहाँ एक पदार्थ है वहीं सभी पदार्थ हैं, अनेक हैं लेकिन सब अपने-अपने स्वरूपको लिए रहते हैं। एक दूसरेसे भिन्न रूपमें ठहरे हैं, उन सब द्रव्योंमें एक मैं आत्मद्रव्य हूं। यह मैं अपने स्वरूपसे हूं और जितने भी पर हैं, चाहे वे पर जीव हों, पुद्गल आदिक हैं उन सबसे मैं जुदा हूं। तब अन्य पदार्थोंसे ममत्व छोड़कर अपने आत्माकी भावना करना ही सच्चा व्यवसाय है। हम व्यवहारमें रहते हैं तो व्यवहारमें जो जो कुछ भी प्रवृत्ति आती हैं, मिलती हैं उन सबका सही ज्ञान होना चाहिए तो हम एक निर्भय निराकुल और समाधान रूप बने रहेंगे। यों लोकका स्वरूप विचारने से परतत्त्वोंसे हटकर अपने आपकी ओर लगनेकी बात कही गई है।

दुरन्तदुरितारातिपीडितस्य प्रतिक्षणम्।
कृच्छ्रान्नरकपातालतलाज्जीवस्य निर्गम ॥२२६॥

भावकलकसे पीडित जीवका दुर्गतिसे छूटनेकी दुर्लभता—इन बारह भावनाओंके प्रकरणमें अब यह बोधि दुर्लभ भावना अन्तिम भावना कही जा रही है। इसमें बोधिकी दुर्लभताका वर्णन किया जायेगा। बोधिका अर्थ है रत्नत्रय। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका नाम है बोधि। यह बोधि अत्यन्त दुर्लभ है, ऐसी बोधिकी दुर्लभताकी भावना कर रहे हैं। यह जीव अनादि कालसे पापरूप वैरियोंसे निरन्तर पीड़ित होता चला आया है। तो इस जीवका आदि स्थान तो निगोद है। जो आज सिद्ध है वे भी कभी निगोदमें थे, हम आप भी जो मनुष्य हैं वे भी निगोदमें थे, आदि स्थान निगोद है। तो इस जीवका निगोदसे निकलना ही प्रथम कठिन है। यद्यपि निगोद जीव लोकमें हैं सब जगह। जहाँ सिद्ध भगवान बिराजे हैं वहाँ भी निगोद जीव हैं और नरकके नीचे भी निगोद जीव हैं,

सात्विकता निराकुल होनेमें सहायक—पुण्यके उदयसे आ जाय तो ठीक है, उसका बँटवारा करलें। प्रथम तो कितना भी वैभव आये, अपना जीवन ऐसा सात्विक रहे जैसा कि अन्य लोगोंका अपने से छोटे लोगोंका करीब-करीब रहता है तो उससे अनेक लाभ हैं, एक तो आकुलता नहीं होती, अधिक कमाने की चिन्ता नहीं होती। जब हम आवश्यकताएँ ही नहीं बढ़ा रहे हैं तो कमाने की चिन्ता क्या? दूसरे कदाचित उदय ऐसा आया है कि स्थिति कम हो जाय तो उस स्थितिमें इसे वेदना न होगी, अभ्यास बना हुआ है। तपश्चरणमें और बात क्या सिखायी जाती है? लोग उपवास करते, पूर्वके दिनोंमें बड़े सादे रहनसहनसे रहते, यहां तक कि कुछ लोग बाल भी नहीं बनवाते, हजामत भी नहीं करवाते, न चटक मटकके कपड़े पहिनते, न घरमें अधिक बसते, बहुत सा समय मदिरमें गुजारते तो वह एक सात्विक वृत्तिका अभ्यास है तो जितना अपनेको सात्विक प्रकृतिसे बना लिया जाय उतनी अपने को निराकुलता रहेगी।

व्यवसायोमे उत्तम व्यवसाय—हिम्मत ऐसी होनी चाहिए। जब कभी विशेष सुविधायें हैं चलो उन सुविधावोंको भोग लें, पर कभी न रहें तो उसमें भी प्रसन्न रह सकें। जैसे कुछ लोग तो ऐसे होते हैं कि जिन्हें हाथ पैर दबाये बिना चैन नहीं पड़ती और कुछ लोग ऐसे होते हैं कि हाथ पैर दब गए तो ठीक न दबे तो कुछ हरज नहीं, तो जिसे चैन नहीं पड़ती वह तो न दबने पर बेचैन हो जायेगा और एक ऐसा है कि जिसे कुछ भी बेचैनी नहीं होती। इसी तरह कोई ऐसे ही पुण्यवान हैं कि सुविधावोंको भोगकर रहें पर कभी न रहें ये साधन तो उस स्थितिमें परेशान हो जाते हैं और एक ऐसे हैं कि हल्की स्थिति हो जाने पर दुखी न होगा, तो अंदाज कर लो कि इनमें भला किसे कहोगे? तो इस लोकमें किसी भी समागममें विश्वास न करें, अपने आत्माकी पवित्रतापर विश्वास करें। सब वैभव जो कुछ मिलते हैं वे आत्माकी इस पवित्रताके लगावसे मिलते हैं। तो सबसे बड़ा भारी व्यवसाय तो अपने आपको पवित्र बनाये रहना है और पवित्र बनाये रहने के लिए आचार्योंके उपदेश पढ़ना, सुनना, विचारना, किसी भी प्रकारसे दो वचन ज्ञानके पढ़ें तो वह तो लाभकी ही बात है। जब ज्ञानकी दृष्टि बनती है तो सब कुछ उचित परिवर्तन हो जाता है और जब अज्ञानकी दृष्टि बनती है तो क्लेशकी परम्परा बढ़ती है तो कोशिश यह करना चाहिए कि दो एक बार उपदेश पढ़कर सुनकर दो एक बार धर्मकी चर्चा करके, दो एक बार अच्छे साधु संतोंकी सगतिमें बैठकर किसी भी प्रकार अधिकसे अधिक बार अपने ज्ञानस्वरूपकी खबर हो सके, दृष्टि जग सके, उस ओर झुकाव बन सके बस वह तो है उत्तम

कषायोंके संस्कारसे ऐसा नहीं कर पाता है। तो इस बोधिदुर्लभ भावना से मनुष्य भवकी और रत्नत्रयकी दुर्लभता बताकर यह ध्यान दिला रहे हैं कि जब इतनी उत्कृष्ट स्थिति पायी है तो अब विषयसंस्कारोंसे छुटकारा पायें और धर्ममें ही विशेष लगें तो इससे भी अधिक अच्छा फल प्राप्त होगा, यों इस बोधि दुर्लभ भावनामें इस बोधिका रत्नत्रयका वर्णन कर रहे हैं।

तस्माद्यदि विनिष्क्रान्तः स्थावरेपु प्रजायते।
त्रसत्वमथवाप्नोति प्राणी केनापि कर्मणा ॥२३०॥

निगोदकी अपेक्षा स्थावरपना उत्तम—बोधिदुर्लभ भावनामें बोधि की प्राप्ति कितनी कठिन है, यह बताया जा रहा है। यह जीव अनादि कालसे तो निगोदमें रहा आया। निगोद जीव वनस्पतिके भेदोंमें से है। वनस्पतिके दो भेद होते हैं, एक साधारण वनस्पति, एक प्रत्येकवनस्पति। साधारण वनस्पतिका नाम निगोद है। साधारण वनस्पतिमें भी दो भेद हैं—एक बादर साधारण वनस्पति, एक सूक्ष्म साधारण वनस्पति, जिन्हें बादरनिगोद और सूक्ष्मनिगोद कहते हैं। इन निगोदमें एक श्वासमें १८ बार जन्म मरणका क्लेश सहना पड़ता है। ऐसा सबसे अधिक दुर्गतिका स्थान यह निगोद है। इस निगोदसे यह जीव निकला तो अन्य स्थावरोंमें उत्पन्न हुआ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति। यह निगोद की अपेक्षा कुछ अच्छी स्थिति है, किन्तु हैं ये सब स्थावर। इन स्थावरों में भी यह जीव असख्यात काल तक भ्रमण करता रहता है।

स्थावरत्वसे विकलत्रयपनेकी उत्कृष्टता—किसी भी कर्मसे कुछ पुण्य कर्मका उदय हो तो स्थावर कायसे निकलकर त्रस गतिको प्राप्त करता है। त्रसोंमें ४ प्रकार हैं—दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पंचइन्द्रिय। इनमें सबसे हीन दर्जेके हैं दो इन्द्रिय, जिनके स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियोंका विकास हुआ हो वे दो इन्द्रिय जीव कहलाते हैं। स्थावरोंमें केवल स्पर्शन इन्द्रियका ज्ञान था और स्पर्शन इन्द्रियसे उत्पन्न सुखका लाभ था। अब दो इन्द्रिय होने पर स्पर्शनइन्द्रियजन्य ज्ञान हुआ और रसना इन्द्रियजन्य भी ज्ञान हुआ। अब इसको रसका भी ज्ञान होने लगा, तीनइन्द्रिय जीव हुआ तो स्पर्शन, रसना और घ्राण इन तीन इन्द्रियोंसे ज्ञान उत्पन्न होने लगा। अब यह जीव सुगध दुर्गन्धका भी ज्ञान करने लगा। तीन इन्द्रियके बाद चतुरिन्द्रिय जीव हुआ। तो ये स्पर्शन, रसना घ्राण और चक्षु इन चार इन्द्रियके निमित्तसे ज्ञान और सुख होने लगा। यहां तक यह जीव विकलत्रय कहलाता है। यह जीव निगोदसे निकला अन्य स्थावरोंमें हुआ, वहासे निकला दो इन्द्रिय हुआ, फिर तीनइन्द्रिय

किन्तु निगोदका स्थान नरकके नीचे बताया गया है। उसका मुख्य प्रयोजन यह है कि और और जगह तो विकलत्रय भी हैं और प्रत्येक स्थावर भी हैं बहुतायतसे, लेकिन नरकके पातालके नीचे वहां केवल निगोद जीव मुख्यतासे पाये जाते हैं इसलिए उसे निगोद स्थान कहा गया है। तो उस स्थानकी बात नहीं कह रहे हैं किन्तु नित्य निगोदरूप पर्यायकी बात कह रहे हैं। इस जीवका उस निगोदसे निकलना ही कठिन है। निगोद निवास का अर्थ है, अनादि कालसे जो निगोद रहे चले आये हैं, बीचमें कभी उनकी निगोद पर्याय नहीं छूटी ऐसे जीव अब तक भी हैं।

उत्तरोत्तर त्रसपर्यायकी प्राप्तिकी दुर्लभता—जरा अपने आपकी जो आज उत्कृष्टता है उसकी तुलना तो करो, कितने जीवोंसे भले हैं। अनन्तानन्त जीवोंसे अच्छे हैं। अनन्तानन्त तो निगोद ही जीव हैं, उनकी तो कितनी विकट दुर्दशा है, फिर कीड़ा मकौड़ोंको देखिये चींटिया किसी जगह घिस जाती हैं जिन्हें गिने तो लाखों मालूम पडे, ऐसे उन कीड़ा मकौडोंसे तो हमारी आपकी स्थिति अच्छी है ना, प्रत्येक स्थावरोंसे तो हम आपकी स्थिति अच्छी है ना, पशुवोंसे तो हम भले हैं ना, मगर सन्तोष नहीं कर पाते। बैल भैंसा जो गाड़ीमें बोझ ढो रहे हैं, पिट रहे हैं उनसे तो हम आप बहुत अच्छे हैं, पक्षियोंसे भी अच्छे हैं, और अनेक मनुष्यों से अच्छे हैं। कोढ़ी हैं रोगी हैं, निर्धन हैं, अनेक प्रकारके जीव हैं जो महा दुःखी हैं, उन दुःखियोंसे तो हम आप अच्छे हैं ना।

तृष्णाके कारण प्राप्त सुख भी दुःख—इतनी तो अच्छी स्थिति है मगर जो दृष्टि तृष्णाकी ओर लगी है तो जो आज अच्छी स्थिति मिली है उसका भी सुख नसीब नहीं होता। जैसे एक लाखका धन है उसमें एक हजार घट गए तो ९९ हजार तो अभी भी हैं, मगर जो एक हजार घट गए उसकी ओर दृष्टि लगनेसे उसका विषाद होनेसे ९९ हजारका भी आराम नहीं मिल रहा है, और एक मनुष्य जो खोंचा फेर कर गुजारा करता था १०-५ रूपयेकी पूँजीसे ही और उसके पास किसी तरह एक हजार हो गए तो वह तो अपनेको बड़ा सुखी अनुभव करता है। तो हम आपकी स्थिति अनन्तानन्त जीवोंसे आज भली है, मगर कुटेव ऐसी बनी चली आयी है कि अपनो इस अच्छी स्थितिका भी उपयोग नहीं कर पाते।

विषय सस्कारोंके छूटने पर ही धर्मकी सुलभता—चलो 'जो है सो ही ठीक है, जो मिला है वही जरूरत माफिक काफी है, बल्कि जरूरतसे भी ज्यादा है। अब कर्तव्य तो यह है कि अपनेको ज्ञानमें ढालें, शुद्ध आचरणमें लगायें और धर्मसे अपनेको सुसज्जित बनायें जो कि भविष्यमें भी हमें शरण होगा कर्तव्य तो यह है, पर यह जीव विषयवासनाके सस्कारसे

इन्द्रियोंसे उत्पन्न अज्ञान और सुखके भोगने की सामर्थ्य आये लेकिन हेय बुद्धिका हित अहितका यह कुछ भी विवेक नहीं कर सकता। तो सज्ञी होना दुर्लभ है, मनसहित हो तो वहाँ भी यह अपर्याप्तकी विडम्बना लगी है, सैनी जीव भी यदि अपर्याप्त हो तो क्या करेगा? जैसे मनुष्य भी असंख्याते अपर्याप्त होते हैं वे कैसे होते हैं? वे दिखते नहीं हैं किन्तु स्त्रीजनोंके कांख आदिक स्थानोंसे यों ही उत्पन्न होते रहते हैं बिना वजह और उनके न दर्शन है, न पकड़में भी आ सकते सकते हैं और संज्ञी हैं वे किन्तु लब्धपर्याप्ति है, उनमें मनुष्योंकी वैसे ही जन्म मरणकी दशा होती रहती है जैसे निगोद जीवकी होती है। 'नाम बड़े और दर्शन थोडे।' नाम तो हो गया कि मनुष्य बन गया, सैनी बन गया पर क्या बन गया? यदि ऐसे तिर्यंचोंमे भी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च भी हो गए और सैनी भी हो गए किन्तु अपर्याप्त हो गए तो कुछ नहीं कर सकते।

पर्याप्त सैनीपनेकी दुर्लभता—तो सैनी बना और पर्याप्त बना, यह उत्तरोत्तर दुर्लभ है। यह जीव निगोदसे, स्थावरोंसे, दो इन्द्रियसे, तीनइन्द्रिय से, चार इन्द्रियसे और अपर्याप्त तिर्यंच पचेन्द्रियसे अपर्याप्त संज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यंचोंसे निकलकर यह संज्ञी भी हुआ, पर्याप्त भी हुआ तो इतना होने पर भी उसके अवयव सही होना, पूर्ण अवयव सयुक्त होना दुर्लभ है। ऐसे ही तिर्यंचमें संज्ञी तिर्यंच पर्याप्त और सामर्थ्य वाला होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। तिर्यंचोंमें भी इतना ज्ञानबल जग जाता है कि वे सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेते हैं और देशसंयम भी धारण कर लेते हैं। ये हाथी, सिंह, भैंसा, बैल, सूकर, बन्दर, नेवला, साप आदि सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंच भी उस चैतन्यस्वरूपका अनुभव कर लेते हैं। अब बतलावो आत्माकी बात, ज्ञान की बात तो ज्ञानके साथ है, वहाँ मनकी आवश्यकता थी। इस फँसावकी स्थितिमें मन मिल गया।

पर्याप्त सज्ञीके भेदविज्ञानकी योग्यता—तो वह सामर्थ्य जग गयी कि वह भेदविज्ञानकी बात अनुभव करले। इस देहसे भी न्यारा चैतन्यस्वरूप मैं हूं ऐसा अनुभव जैसा कि विवेकी मनुष्य बड़ा प्रयत्न करके विद्या सीख कर किया करते हैं, ये तिर्यंच बिना पढ़े लिखे हैं, अक्षर पढ़ना लिखना तो नहीं जानते लेकिन ऐसा उत्कृष्ट मन हो जाता है किन्हीं-किन्हीं पशुओं का पक्षियोंका कि वे इस देहमात्रसे भिन्न इस चैतन्यस्वभावका अनुभवन कर लेते हैं। यह मैं हू, ऐसा अपने आपके स्वरूपका प्रत्यय कर लेते हैं, और संज्ञी होना बहुत दुर्लभ बात है। अब इसके बाद मनुष्य हुआ तो यहां क्या-क्या चीज उत्तरोत्तर दुर्लभ है इस बातको बतावेगे। इस बोधि दुर्लभ भावनामें मनुष्योंको समझाना है ना तो तिर्यंचके बाद मनुष्योंकी

फिर चारइन्द्रिय हुआ, ये सब उत्तरोत्तर दुर्लभ दशाये हैं, अनन्तानन्त जीव तो अब भी निगोदमें पडे हुए हैं। कमसे कम इतना तो निर्णय हो ही गया है कि हम निगोदराशिसे निकल आये, व्यवहारराशिमें आ गए और उसमें भी आज विकलत्रयोंसे भी निकलकर पञ्चेन्द्रिय हो गए, लेकिन एक नियमित दृष्टि नहीं कर सकते, कल्पनावश दुःखी हुआ करते हैं, हाय मेरी कुछ भी अच्छी स्थिति नहीं है, न अधिक धन है न अधिक परिवार है, न आज्ञाकारी गोष्ठी है, न जाने कितनी कल्पनाएँ करके दुःखी होते हैं। जरा इस ओर दृष्टि तो दो कि अनन्तानन्त जीवोंसे हम कितनी अच्छी स्थितिमें हैं, बस संसारका यही चक्र है, अच्छी स्थितिमें आने पर भी अपनी अच्छी स्थितिसे लाभ नहीं उठाना चाहते। उस ही विषयवासनाके संस्कारोंको दृढ़ कर करके ऐसे अमूल्य अवसरको भी खो देते हैं। यह जीव निगोदराशिसे निकलकर यहां चतुरिन्द्रिय तकमें उत्पन्न हुआ, ऐसी दुर्लभ दशाओंका उत्तरोत्तर वर्णन किया है।

यत्पर्याप्तस्तथा संज्ञी पञ्चाक्षोऽवयवान्वितः।
तिर्यक्ष्वपि भवत्यङ्गी तन्न स्वल्पाशुभक्षयात् ॥२३१॥

असैनी पचेन्द्रियपनेकी प्राप्तिकी दुर्लभता—अभी तक यह जीव बराबर तिर्यञ्चगतिमें है। निगोद भी तिर्यञ्चगतिका जीव कहलाता है और स्थावर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति ये भी तिर्यंचगतिके जीव हैं। दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय चारइन्द्रिय हुआ, ये भी तिर्यंचगतिके जीव हैं। अब इन ही तिर्यंचगतिमें कुछ आगे और बढ़ा तो पञ्चेन्द्रिय हुआ। पञ्चेन्द्रिय में यदि यह जीव अपर्याप्त रहा तो अपना क्या कल्याण कर सकता है? तिर्यञ्च भी हुआ पञ्चेन्द्रिय किन्तु पर्याप्त होना दुर्लभ है। पर्याप्त उसे कहते हैं कि आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोछ्वास भाषा ये पर्याप्तियां जिनकी पूर्ण हो गई हैं, अभी संज्ञी नहीं हुआ इसलिए मनःपर्याप्तिकी बात छोड़ दो। पर्याप्त होना ही दुर्लभ है और पर्याप्त भी हो गया और मनरहित रहे तो करेगा क्या?

अपर्याप्त सैनी की असामर्थ्य—मनसे ही तो शिक्षा ग्रहण की जाती है। मनसे ही सब निर्णय हुआ करता है। मनरहित हो तो यह करेगा क्या? इन सब बातोंको सुनकर अपने पर यह घटित करते जाइये कि हमने अनन्तानन्त जीवोंके मुकाबले कितनी बढ़िया स्थिति पायी है, लेकिन मोही जीव आगेकी और तृष्णाओंकी बात मनमें रखते हैं और जो इस समय पाया है उसे भी सुखसे नहीं भोग सकते, और न इस अच्छे वातावरणका सदुपयोग कर सकते हैं। धर्ममार्गमें नहीं लग सकते। यह जीव पञ्चेन्द्रिय भी हुआ और असैनी रहा तो कुछ विशेष बात नहीं बनती। हाँ, पञ्चे-

भी न्यारा है, जब अपनेको अकिञ्चन मान लें, गुजारा तो सबका होता ही है, कीड़ा मकौड़ा तकका भी गुजारा हो जाता है, येन केन प्रकारेण इस मनुष्यका भी गुजारा चलता है, अब तो यह अपने ज्ञानको सजग रखे, अपनी सुध लेता रहे, सबकी उपेक्षा करे तो इसे दुःख कहाँ रहा ? जो लोग जितना आन्तरिक परिचित समागम बनाते हैं, लोगोंमे स्नेह बढाते हैं, जो अपना यश रखना चाहते है, अपनी प्रशंसा सुनना चाहते हैं तो ऐसे जन कभी निराकुल हो ही नहीं सकते। निराकुल होनेका पात्र वह है जिसमें इतनी हिम्मत है कि सारा जहान यदि मेरे प्रतिकूल रहे, अथवा मुझे कुछ जाने ही नहीं इतने पर भी मेरा कुछ बिगाड़ होता नहीं है। मेरा बिगाड़ मेरा ज्ञान बिगड़े तो होता है, दूसरोंकी चेष्टासे मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं होता है। किसी दूसरेकी चेष्टासे मेरा कुछ सुधार नहीं है।

उत्तम कुल देशादि प्राप्तिकी अति दुर्लभता—सब जिम्मेदारी अपने आपकी है। अपने आपको संभाल लेवे अथवा अपने आपको बिगाड़ लेवे। तो मनुष्य हो और गुणसम्पन्न रहे यह बहुत कठिन बात है। मनुष्य भी हो गया और कुछ सोचने समझनेका गुण भी आ गया इतने पर भी यदि उत्तम देशमें न उत्पन्न हुए तो भी बहुत सी कमी रह गयी। जैसे कोई देश ऐसे हैं समुद्री किनारे पहाड़, गुफावोंके कि जहाँ धर्मका कुछ वातावरण नहीं है। आध्यात्मिक कुछ बात सुन सके, रख सके, कुछ चर्चा में आये इतना भी कहीं वातावरण नहीं है, जहाँ केवल मद्य मांसका ही सेवन होता है, उससे जीवन चलता है ऐसे जघन्य देशमें उत्पन्न हो गया, आखिर क्षयोपशम अच्छा मिला है पर उत्तम देश न मिले तो अशुद्ध वातावरणमें रहकर मनुष्य अपना जीवन यों ही खो देगा। तो उत्तम देश मिलना यह दुर्लभ है, उत्तम देश भी मिल गया और नीच जाति में उत्पन्न हो गए जहाँ सदाचारकी परम्परा ही नहीं, ऐसे जघन्य कुलमें उत्पन्न हो गए जहां अभक्ष्य त्याग की परम्परा ही नहीं तो वहा भी अपना क्या उद्धार कर सकेंगे ? तो मनुष्य बनकर गुणी बनना, उत्तम देशमे उत्पन्न होना, उत्तम जाति कुलमें उत्पन्न होना, यह उत्तरोत्तर दुर्लभ है।

परकी ममता उत्कर्षमें बाधक--जब इस प्राणीका कर्म लघु होता है, शुभ कर्मका उदय होता है, पापकर्मका अभाव होता है तो ये बातें प्राप्त होती है। इन बातोंको सुनकर हम यदि बाहर ही बाहर दृष्टि रखें, यह लोक है, ऐसा है आदि तो बाहरी दृष्टि रखनेसे अपने आपको कुछ प्रेरणा न मिलेगी। अपने आपमें घटित करके निरखना है। हम भी कभी निगोद में थे और ऐसे-ऐसे निकले और निकलकर आज कितनी अच्छी स्थितिमें आये। अब तक जो दुर्लभ बातें कही हैं उनको पार करके यह स्थिति

बात कह रहे हैं। यद्यपि नरकगति और देवगतिके जीव भी होना दुर्लभ है। नारकी भी तो आखिर मन सहित हैं। तीर्थंकर जितने भी बनते है वे या तो नरकगतिसे मरकर जन्म लेकर बनते हैं या देवगतिसे मरकर जन्म लेकर बनते हैं। मनुष्यगतिसे आकर मनुष्य बनकर तीर्थंकर बने इनकी सख्या बहुत कम है, तो नरकगति और देवगतिमे भी कितना उत्कृष्ट मन है, वह भी दुर्लभ हैं। यह बात इस प्रकरणमें समझकर आगे मनुष्यकी बात सुनिये।

नरत्वं यद्गुणोपेत देशजात्यादिलक्षितम्।
प्राणिन' प्राप्नुवन्त्यत्र तन्मन्ये कर्मलाघवात्॥२३२॥

देशजात्यादि गुणसम्पन्न नरत्वकी प्राप्तिकी दुर्लभता—यह जीव नाना योनियोंसे निकलकर मनुष्य भी बना तो मनुष्य बनना कठिन है। आप देखते हैं कितने ही बालक कितने ही मनुष्य ऐसे नजर आते हैं जिनका दिमाग काम न करे, जो बोल नहीं सकते, गूंगे हैं, बेकार हैं, जिनके बारेमें माता पिताको भी यह चिन्ता हो जाती है कि यह खायगा कैसे, इसमें तो कुछ भी योग्यता नहीं। ऐसे मनुष्य हो गए तो वे अब क्या करेंगे, वहाँ हितकी साधना कैसे बनेगी? तो मनुष्य भी बन गए और अत्यन्त मूर्ख हुए, दिमाग शक्ति भी नहीं रही ऐसा मनुष्य हुआ तो भी इस जीवको क्या लाभ मिला? मनुष्य बने और उसमें भी गुणी बने तो यह बहुत दुर्लभ बात है। अपने बारेमें सोच लो हम आप सब गुणसम्पन्न हैं, बात समझते हैं, हृदयकी बात अच्छी तरह बता सकते है, वस्तुके स्वरूपकी चर्चा भी कर सकते हैं, यह सही हैं, यह गलत है, यह भी निर्णय कर सकते हैं। और क्या चाहिए? रही संसारके सुखकी बात। प्रथम तो ससारमें कहीं सुख है नहीं, जितने भी मनुष्य हैं चाहे किसी भी स्थितिमें आ गए हों, यदि ज्ञान नहीं है, आत्म स्वरूपकी सुध नहीं है तो कुछ न कुछ अटपट कल्पनाएँ करके दु खी हो जायेंगे। एक भी मनुष्य ऐसा बतावो जो आत्मस्वरूपके अनुभवसे शून्य हो, और फिर सुखी नजर आता हो। बडेसे बडे जो लोकमें माने जाते हैं राज्याधिकारी या धनिक लोग या किसी कारणसे यशवान हुए हों, किन्हींको भी देख लो कोई सुखी और सन्तोषी नजर न आयगा।

सासारिक सुखोकी उपेक्षामें ही सुख—तो ससारके सुखोंसे तो विरक्त रहना और इन सुखोंकी उपेक्षा करना इसमें ही हित है। अब शान्ति जैसे मिले वैसा उद्यम करने आप चलें तो वह उद्यम अन्तरङ्गका है, ज्ञानसे सम्बधित है। कल्पना करो कि बड़ी दयनीय स्थिति है, किसीकी किन्तु ज्ञान सजग हैं यह तो अकिञ्चन है, इसका कुछ भी तो नहीं है, देह तक

यह बात है कि धर्मकी सबसे बढ़कर बात मनुष्यमें ही हो सकती है। यह मुनि हो सकें; आत्मध्यान विशेष कर सकें, शुक्लध्यान बना सकें, अरहंत अवस्था प्राप्त कर सके, मुक्ति प्राप्त कर सकें ये बातें मनुष्यमे हैं। तो जिन बातोंके कारण यह मनुष्य पशुओंसे श्रेष्ठ है वे बाते इसमें न हो तो मनुष्य होना न होना किस कामका है। तो बोधिदुर्लभ भावनामें हमें यह दृष्टि रखनी है कि हमने बहुत उन्नति करके आज यह मनुष्यकी स्थिति पायी है। अब हम इस उन्नतिको नष्ट कर दें, फिर अवनतिमें पहुच जायें यह तो कोई विवेकका काम नहीं है। कभी बहुत मेहनत करके ऊपर तक तो चढ़ गए और गिरनेमे तो कुछ विलम्ब ही नहीं लगता, झट गिर जाय तो यह स्थिति हम आपकी न बन जाय, इस ओर हम आपको विवेक रखना चाहिए। इस आत्मदेवके प्रतापसे आज हम आप बहुत गुणी और उत्तम देश जाति वाले मनुष्य हुए हैं। हम आपको कुछ कलायें भी प्राप्त हुई हैं, किन्तु उन कलावोंका प्रयोग यदि विषयकषायोंके लिए ही हम करें कुछ समझदार हुए ना, इसलिए जरा जरा सी बातोंमें क्रोध करने लगे, जरा जरा सी बातोंमें हठ करने लगें, मायाचार चुगली करके हम कुछ अपनी चतुराई समझने लगें, तृष्णा करने लगे, ऐसे ही कर्म करके यदि हम अपने इस आत्मप्रभुपर हमला करते है तो इसका फल यह होगा कि हम जिस भूमिसे उठकर, जिस निम्नदशासे निकलकर आज मनुष्य हुए हैं फिरसे हम उसी निगोद दशामे पहुच जायेंगे। कल्पना तो करो आज मनुष्य है और मरकर बन गए पेड पौधे तो क्या हालत गुजरगी? और, यह बात क्या हो नहीं सकती? यदि अपने आप न चेते तो ये सब बातें सब सम्भव हैं तो यहाँ तो जरा सी हीनता हो गयी तो खेद मचाते हैं, और जब मरकर पेड़ पौधे हो गए तब फिर खेदका कुछ अनुमान रहा क्या? तो लोकका ऐसा स्वरूप जानकर और दुर्लभसे दुर्लभ चीज हमने पाया है ऐसा समझकर विषय कषायोंसे विराम लें और अपने आत्माके उद्धारका यत्न करें।

आयुः सर्वाक्षसामग्री बुद्धिः साध्वी प्रशान्तता।
यत्स्यात्तत्काकतालीयं मनुष्यत्वेऽपि देहिनाम् ॥२३३॥

दीर्घायु पचेन्द्रित्व विवेकादि प्राप्तिकी काकतालीयता-–यह जीव निगोद से विकलत्रयोंसे निकलकर संज्ञी पञ्चेन्द्रियमे पर्याय मनुष्य हो गया। इतने पर भी देश, जाति, कुल उत्तम न मिले तो भी बेकार सा है। देश, कुल, जाति भी अच्छे मिल गए तो अब ऐसी कौन सी स्थिति है जो इससे भी दुर्लभ है? दीर्घ आयुका होना, मनुष्य होना, गुणसम्पन्न होना, उत्तम देश जातिमें होना, और अल्प आयु है, बचपनमें ही गुजर गए तो उसने

मिली है कि हम मनुष्य हैं, गुणसम्पन्न हैं, तो कुछ दिमाग भी सही है, उत्तम देशमें उत्पन्न हुए, उत्तम जातिमें उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए। इतनी दुर्लभ स्थिति हम आपने प्राप्त कर ली, अब क्या करना है सो बतावो? केवल एक मोही जीवोंकी तरह मोही जीवोंको बतानेके लिए मोही जीवोंमें ही रहकर एक मोह भरी बात ही करते रहें और उसको ही अपने आप में घटाते रहें तो इस जीवनसे तो कोई उद्धार नहीं है।

संज्ञाकी अपेक्षा नर पशुसे भी अधिक—इसीको ही पशुजीवन कहते हैं। ये सब काम तो पशु भी करते आये। पशु भी आहार लेते हैं, मनुष्य भी आहार लेते हैं। वहाँतक पशुका पेट भर जाय तो बढ़िया घास रखी हो तो उस ओर निगाह भी नहीं करते, किन्तु मनुष्यका पेट भी भरा हो, गले तक भी न उतरे तो भी कमसे कम स्वाद मिल जाय इसलिए कुछ न कुछ खा ही लेते हैं। तो आहारमें भी यह मनुष्य धैर्य नहीं रख रहा है। बल्कि पशुओंको धर्य है। पशु भी नींद लेते हैं, मनुष्य भी नींद लेते हैं। पता नहीं पशुओंको भी मनुष्यों जैसा स्वप्न आता है या नहीं नींदमें, पर यह तो स्पष्ट है कि पशुओंकी नींद बहुत जल्दी खुल जाती है, और सोते हुए पशुओंको आपने देखा भी कम होगा। जरासी आहट पाकर वे जग जाते हैं। स्वान निद्रा तो बहुत प्रसिद्ध है, किन्तु मनुष्यकी नींद देख लो, इसके जगनेके लिए बहुत तेज आवाज देने वाली ऐलार्म घड़ी रखनी पड़ती है। इतने पर भी नखरा रखते हैं और कहते हैं कि १०बज गए और पता नहीं पड़ा और कितने ही लोग तो ऐसा जबरदस्त सोने वाले होते हैं कि उन्हें जगाने के लिए बहुत-बहुत झकोरना पड़ता है। निद्रामें भी मनुष्य पशुओंसे गये बीते हैं। डरकी बात देखो तो पशु कभी डरेंगे जब उनके ऊपर कोई डंडा लेकर आये और मनुष्य कड़े कोमल गद्दा कुर्सियों पर बैठा है, पासमें रेडियो, पखा भी लगे हैं मगर भय बड़ा तेज बना हुआ है। न जाने देश की क्या हालत होगी, न जाने कैसे कैसे कानून बनेंगे, बड़ा विकट भय बना रहता है। तो भय भी पशुओंकी अपेक्षा मनुष्योंमें ज्यादा है। काम सेवन की बात देखो, प्राय: सभी लोग कहते हैं कि मनुष्य बारहों महीना काम सेवनमें रहते हैं जब कि पशुओंके ऋतुवों पर होता है और वह भी बहुत कम। तो मनुष्य इस कामकी बातमें भी पशुओंसे अधिक बढ़ा चढ़ा है।

मनुष्यको पशु कोटिसे उद्धार करनेमें समर्थ—ऐसी कौन सी बात मनुष्यकी पशुओं से श्रेष्ठ कही जाय? वह है केवल धर्म की बात। तो धर्मकी दिशामें कुछ पशु धर्मात्मा भी होते हैं। अनेक मनुष्योंसे तो पशु भी धर्ममें कुछ अच्छे होते हैं। जैसे सम्यग्दृष्टि हो जायें, देश संयम धारण करने लगें, तो अज्ञान मूढ पुरुषोंसे तो धर्ममें भी पशु बढ़कर हो गए। हाँ,

ततो निर्विषय चेतो यमप्रशमवासितम्॥२३४॥

विषयोंसे विरक्तताकी दुर्लभता—मनुष्य हुए, आयु मिली, बुद्धि अच्छी हुई, मंद कषाय भी मिल गया, पर विषयोंसे विरक्तिका परिणाम होना यह और भी कठिन है। यद्यपि थोड़ा विषयोंकी उपेक्षा किए बिना कषायें मंद नहीं होतीं लेकिन वैराग्य होना और बात है। वैराग्य होता है, सम्यग्ज्ञान मंद कषायें तो मिथ्यादृष्टिके भी हो सकती हैं। कोई दिगम्बर भेष धारण करके भी और इतनी ऊँची साधना करके भी कि शत्रु उसे कोल्हू में डालकर पेले तो भी वह शत्रुपर क्रोध न करे, इतनी भी मंद कषाये हो जायें तो भी मिथ्यात्व सम्भव है, रह सकता है। तब समझिये मिथ्यात्व कितना गहन अंधकार है? यहाँ एक तर्कणा उठ सकती है कि इतनी ऊँची तो साधना है, सब परिग्रह त्याग दिया और सभी प्रकारकी ऋतुवोंकी बाधाएँ सहते हैं, इससे बढ़कर और क्या कि शत्रु भी उसे कोल्हूमें पेल रहा है, फिर भी शत्रुके प्रति शत्रुताका भाव नहीं है इससे बढ़कर और क्या चाहिए?

पर्यायमे आत्मीयता ही मिथ्यात्वका अस्तित्व—फिर मिथ्यात्व कैसे रह गया? वह कौनसी धारणा है जिसमें मिथ्यात्व बसा है? तो मिथ्यात्वके जो लक्षण हैं उन लक्षणोंकी पद्धतिसे ही निर्णय करें तो यह बात आती है कि पर्यायमें उसने आत्मीयता मानली है, मैं साधु हू, मैंने व्रत लिया है, मुझे निर्वाण जाना है, साधुके किसी शत्रुके प्रति विरोध न रखना चाहिए। अगर शत्रुपर क्रोध करे तो उसका निर्वाण न होगा। ऐसा उसको अपने साधुत्वकी साधनामें आत्मबुद्धि लग गयी है। अब सोचिए—एकदममें तो यों लोगोंके आता है कि वह अच्छा ही तो सोच रहा है कि मै साधु हूं, मुझे समता रखना चाहिए, विरोध न करना चाहिए, यह ठीक ही तो सोच रहा है, पर नहीं, अब भी उसके अन्तरङ्गमें ऐसी श्रद्धा है तो ठीक नहीं है। श्रद्धा यह होनी थी कि मैं तो एक चैतन्यस्वरूप आत्मपदार्थ हूं। अरे कोई गृहस्थीमें रहता है तो मानता है कि मैं गृहस्थ हूं इसी प्रकार किसीने परिग्रह त्यागकर अपने को मान लिया कि मैं साधु हू, तो गृहस्थ भी एक स्थिति है और साधु भी एक पर्यायकी स्थिति है। गृहस्थने गृहस्थी की पर्यायसे आत्मबुद्धि करली तो वह अज्ञानी है तो साधुने भी साधुकी परिणतिमें आत्मबुद्धि करली तो वह भी अज्ञानी है, इतना अज्ञानका सूक्ष्म विष रह जाता है।

तत्त्व निर्णयकी दुर्लभताकी प्राप्तिसे सर्वस्वकी सुलभता—तो मद कषाय होने पर भी निर्मल बुद्धि न रह पाये तो उसका भी आगे उद्धार नहीं है। विषयोंसे विरक्त होनेका परिणाम होना, यम और शान्तिसे सुवासित चित्त

हितकी साधना तो न कर पायी, इस कारण दीर्घ आयुका मिलना दुर्लभ है। जैसे बतलाया करते हैं लोग कि जो अच्छे बालक हैं, होनहार हैं वे बचपनमें ही गुजर जाते हैं, तो दीर्घ आयुका मिलना दुर्लभ है। आयु भी बहुत लम्बी मिले पर आजीविका न रहे, इन्द्रियोंकी पूर्ण सामग्री न रहे तो वह भी आगे नहीं बढ़ सकता। गुणसम्पन्न भी है, लम्बी आयु भी है मगर दरिद्रता है जिससे निरन्तर चिन्ता बनी रहती है तो उसमें भी कुछ बात न बन सकी। तो इन्द्रियोंकी पूर्णसामग्री होना यह दुर्लभ है। विशेष वैभवकी जरूरत तो नहीं है किन्तु इतने साधन हों कि जिससे यह शरीर टिक सके, तब फिर वह धर्मके मार्गमें आगे भी बढ़ सकता है। सामग्री भी मिल गयी किन्तु उत्तम बुद्धि न हो तो भी बेकार है, बुद्धिका क्षयोपशम तो मिला था, लेकिन बुद्धि खोटी और चलने लगी, व्यसनोंमें, पापोंकी चेष्टावोंमें अथवा कुछ संहारक चीजोंके निर्माणमें तो भी उसका हितमय जीवन नहीं बना।

कषाय मन्दता उत्तम बुद्धिकी प्राप्तिसे भी दुर्लभ—उत्तम बुद्धि मिले यह भी दुर्लभ वस्तु है। उत्तम बुद्धि भी मिली पर कषायें मंद न हुई तो क्या लाभ? कोई लोग बुद्धिमान भी होते हैं पर कषायें तीव्र होनेसे अनापसनाप प्रवृत्ति कर डालते हैं। तो मदकषायोंका होना यह सबसे अधिक दुर्लभ है और यों समझना चाहिए कि इतनी बात होनेपर मद कषायोंका भी मिल जाना ऐसा दुर्लभ है जैसे काकतालीय न्यायमें कहा है। जैसे किसी ताड़वृक्षके नीचेसे कौवा उड़कर जा रहा हो और उसी समय उस ताड़से फल टूटे और कौवा चोंचमें ग्रहण करले तो यह कितनी कठिन बात है। ऐसी ही कठिन बात समझना चाहिए, मनुष्य हो जाना और उत्तम देश जाति कुल उत्तम बुद्धि ये भी मिलें और फिर मद कषायें हों तो यह उत्तरोत्तर दुर्लभ चीज है।

मद कषायसे मनुष्यकी उत्तमता—मंद कषायोंसे मनुष्यकी शोभा है, धर्ममें प्रवृत्ति होती है और लोगोंका आकर्षण भी होता है, लोकका उपकार भी होता है, किन्तु तीव्र कषायसे न दूसरोंका भला और न खुदका ही भला होता है। आत्माका अहित करने वाली ये कषायें ही तो हैं। जो आत्मा को कसें, दु ख दें, ससारमें रुलायें उन्हें कषायें कहते हैं। तो मद कषायों का होना यह बहुत ही ऊँची चीज है। हम सबका ऐसा ही यत्न हो कि कषायें छूटनेका कोई निमित्त मिले, वातावरण मिले, तो यों समझो कि ये सब लोग हमारी परीक्षा करनेके लिए ही मानो कुछ प्रतिकूल चल रहे हैं। उस वातावरणमें भी अपने को मदकषायी रख सकें, ऐसा यत्न होना चाहिए।

दुर्लभतर तत्त्वोपलब्धि होनेपर प्रमाद न करनेका अनुरोध—उत्तरोत्तर दुर्लभ और उनमें भी अत्यन्त दुर्लभ तत्त्वनिर्णय जैसी बात पा लेने पर भी यदि कोई प्रमाद करे, काम और धनके लोभमें आकार सन्मार्गसे च्युत हो जाय तो यह बड़े खेदकी बात है। देखिये इस जीवने तत्त्वनिर्णयके पाने तक कितनी अच्छी स्थिति पायी है? इसे फिरसे दुहरायें तो कितनी ही स्थितियाँ बन गयीं। सबसे पहिले यह जीव निगोद था। निगोदसे निकला तो प्रत्येक स्थावरोंमें पैदा हुआ। प्रत्येक स्थावरोंसे निकलकर दो इन्द्रियमें, दो इन्द्रियसे निकलकर तीन इन्द्रियमें, तीन इन्द्रियसे चार इन्द्रियमें, उसके बाद हुआ असञ्ज्ञी पंञ्चेन्द्रियमें, उसमें भी पर्याप्त हुआ, उसके बाद संज्ञी पञ्चेन्द्रियमें वहाँ भी अपर्याप्त रहा तो क्या सिद्धि? उसके बाद संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त हुआ। यहाँ तक तो तिर्यञ्चगति मान लीजिए। चार इन्द्रिय तक तो केवल तिर्यञ्च ही होता है, अब इस तिर्यञ्च गतिसे निकल कर अन्य देव, नरक कुछ बन जाय तो वहाँ संयम नहीं है। उन सबसे भी दुर्लभ चीज है मनुष्यका होना, और मनुष्य होने पर भी नीच हिंस्र बने तो क्या? उससे भी दुर्लभ है उत्तम देश जाति कुलका मिलना। इतना मिलने पर भी दीर्घ आयु विशेष आयुका मिलना दुर्लभ है। विशेष आयुसे बाद फिर इन्द्रियका साधन सामग्री मिलना दुर्लभ है, फिर उत्तम बुद्धि मिलना दुर्लभ है, मंद कषाय मिलना दुर्लभ है, चित्तका विरक्तपरिणाम होना दुर्लभ है। इतना सब मिले उससे भी यम नियम शुद्ध भाव, वैराग्य परिणाम मिलना दुर्लभ है। यहाँ तक करीब २० बातें हो चुकीं। तत्त्वनिर्णय भी प्राप्त हो जाय, बुद्धि तत्त्वको पकड़ने लगे, उस ओर दृष्टि जाने लगे, बड़ा अच्छा समय व्यतीत होने लगे, कामके वशीभूत हो, प्रमादके वशीभूत हो, धनका लोभ हो जाय तो सब किया कराया भी खराब हो गया, भ्रष्ट हो गया। तो इस प्रकार फिर धनके या अन्य किसी लोभमें आकर सन्मार्गसे च्युत हो जाता है। जीवकी यह दशा बोधिदुर्लभ भावनामें बतायी जा रही है। इससे यह शिक्षा लेनी है कि अत्यन्त दुर्लभ हितकी सामग्री पाकर हमें प्रमादी नहीं बनना चाहिए। प्रमादका अर्थ है पापोंमें चित्तका लगना। मोक्षमार्गमें प्रमाद न करना चाहिए।

मार्गमासाद्य केचिच्च सम्यग्ररत्नत्रयात्मकम्।
त्यजन्ति गुरुमिथ्यात्वविषयव्यामूढचेतसः॥

मिथ्यात्वविषव्यामोहसे सन्मार्गका परिहार

प्रकार रत्नत्रय मार्गको भी पाकर तीव्र [illegible]
सन्मार्गको छोड़ देते हैं। इससे बढ़कर और
जीव सम्यग्दृष्टि हो, साधु हो, उपशम

का होना यह बहुत ही कठिन बात है। यह ज्ञान होने पर सम्भव है। इससे पहिली बातें तो अज्ञान अवस्थामें भी प्राप्त हो सकती है। पर एक शुद्ध निर्मल परिणाम, परतत्त्वोंसे वैराग्यका भाव यह बहुत ही कठिन चीज है और कुछ-कुछ यह भी होने लगे तो एकदम स्पष्ट तत्त्वका निर्णय होना यह अत्यन्त दुर्लभ है। तत्त्व निर्णय होने पर पदार्थोंमें प्रीति नहीं रहती और जब परकी प्रीति नहीं रही तो उसे सब समृद्धि मिल गयी। इस जीवको तो चाहिए शान्ति ही ना, परपदार्थोंका समागम छोड़कर प्रथम तो यह जीव करेगा क्या ? बहुत सी सामग्री जुड़ गयी उनमें जीव क्या करे, केवल एक अपनी कल्पना और विकल्प ही करना है, किसी परका तो कुछ करता नहीं और जुड़ गया तो आखिर वह समूचाका समूचा छोड़ना ही पड़ेगा। कुछ दिनोंका यह मेला है, जो कुछ भी समागम मिले हैं सबका वियोग अवश्य होगा तो लाभ क्या मिला ? शान्ति तो नहीं मिल सकी, बल्कि अशान्तिका साधन रहा।

तत्त्व विज्ञानका लाभ—तत्त्व निर्णय हो जाये, सर्व पदार्थ स्वतन्त्रता स्वतंत्र हैं ऐसा ज्ञानमें आने लगे तो अब इसे सयोग वियोगकी आकुलता नहीं रही। जैसे व्यवहारमें लोग कहते हैं कि अपनी सतानको बहुत योग्य बना दे, खूब पढ़ लिख जाय, ऊँचा पोस्ट पाने लगे तो उस ही को एक बड़ा वैभव मानते हैं। जो एक लखपतिकी कदर नहीं होती उससे अधिक कदर उस पढे लिखेकी है जिसने गरीबीसे पढ़ा है और किसी तरह अर्थोपार्जन करने वाली विद्यामे पारगत हो गया है तो उसे लोग उसी दृष्टिसे देखते हैं जैसे यह लखपति ही है। तो इस जड़ वैभवका संचय करनेकी अपेक्षा बच्चेको कुशल बना देना यह बहुत ऊँची बात है। उससे फिर वह जीवनमें कष्ट नहीं पा सकता, वैभवका तो कुछ विश्वास भी नहीं, रह सके या न रह सके, पर किसी न किसी ढंगसे योग्यता पायी है तो वह अपना जीवन पार कर लेगा। तो जैसे लोकव्यवहारमें इस जड़ वैभवसे भी अधिक महत्त्वकी बात विद्याभ्यासको कहते हैं ऐसे ही समझिये कि सुख शान्तिके क्षेत्रमें बड़ी समृद्धियां मिलनेसे भी अधिक महत्त्वकी चीज तत्त्वनिर्णय है, जो भी दिखे इसीका ही स्पष्ट निर्णय है जिसमें उसे क्षोभ न हो। जीव देखो, पौद्गलिक पदार्थ देखो, कुछ भी चीज सामने हो उसे निरख कर उसका स्वतत्र स्वरूप ज्ञानमें आ गया। फिर क्षोभ नहीं होता। तो अत्यन्त दुर्लभ है तत्त्वनिर्णय। तत्त्वनिश्चयके बाद फिर कोई कमी नहीं रहती, नियमसे उसका उद्धार होगा।

अत्यन्तदुर्लभेष्वेषु दैवाल्लब्धेष्वपि क्वचित्।
प्रमादात्प्रच्यवन्तेऽत्र केचित्कामार्थलालसाः ॥१३५॥

निर्णय करना चाहिए कि हमको सही मार्ग कैसे मिले, शान्ति कैसे मिले, इस ओर अपना उद्यम होना चाहिए। जगत अपनेको किसी तरह कुछ माने इन बातोंका महत्त्व न देना चाहिए। बुरा कहते हों कहें, भला कहते हों कहें। भले शुद्ध मार्ग पर चलने पर भला कहने वाले तो बहुत कम हैं क्योंकि लोगोंको भलाईसे प्रीति है नहीं। यदि हम भलाईके मार्गमें चलें तो हमें भी अच्छा कहने वाला कौन होगा? तो वाह्यकी हम कुछ परवाह न करें और हम अपने रत्नत्रयकी, सम्यक्त्वकी, ज्ञानकी, चारित्रकी साधनामें रहें। बोधिदुर्लभ भावनामें यही शिक्षा दी है कि दुर्लभ चीज तत्त्वज्ञान पाया है तो इसे स्थिर करें, प्रमादी बनकर इस तत्त्वज्ञानसे च्युत न हों।

स्वयं नष्टो जनः कश्चित्कश्चिन्नष्टैश्च नाशितः।
कश्चित्प्रच्यवते मार्गाच्चण्डपापण्डशासनैः ॥२३७॥

मार्गसे च्युत होनेके कारण—बोधिदुर्लभ भावनामें उत्तरोत्तर दुर्लभ बातोंकी प्राप्ति होने पर भी जो कुछ पदसे गिर जाता है उस गिरनेमें कुछ तो स्वयं ही लोग नष्ट हो जाते हैं तो अपने ही कारणसे पतित हो जाते हैं। दूसरे जीवोंकी कुसंगति न मिलने पर भी अपनी ही कमजोरी से सत्य मार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं और कोई-कोई पुरुष नष्ट और भ्रष्ट हुए दूसरे पुरुषोंके द्वारा बरबाद कर दिये जाते हैं। और कोई, लोग जो पाखण्डी जन हैं उनके उपदेशे हुए मतोंको देखकर, उनकी बातोंको सुनकर मार्गसे च्युत हो जाते हैं। उत्तरोत्तर उत्तम बात प्राप्त कर लेने पर भी मनुष्य जो गिर जाता है उसके तीन कारण बताये हैं। किसीके तो तीव्र पाप का उदय होता है अपने आपमें ही विकारोंकी कल्पनाएँ जगती हैं और अपनी कल्पनाओंसे वे स्वयं नष्ट हो जाते हैं। दूसरी बात यह बताई है कि जो लोग ऐसे नष्ट हैं, भ्रष्ट हैं, हीन आचरणी हैं उनको संगति पाकर उनके वातावरणमें रहकर कोई लोग नष्ट हो जाते हैं, अपने उस ऊँचे मार्ग को छोड़ देते हैं। और कोई किसी चमत्कारी लौकिक प्रभाव वाले पाखंडी जनोंके उपदेशको सुनकर उनकी चमत्कारी मायाको निरखकर क्षुब्ध होकर नष्ट हो जाते हैं। इससे इन तीन बातोंमें सावधानी चाहिए ताकि सन्मार्गसे नष्ट न हो सकें।

पतनसे बचनेके लिये सावधानी—प्रथम तो ज्ञानदृष्टिसे, स्वाध्याय आदिकसे, सत्संगतिसे अपने आपको ऐसा सावधान बनाये रहना चाहिए कि स्वयंमें कमजोरी न आ सके, भावोंका बिगाड़ न आ सके और उत्तरोत्तर भाव सुधार पर ही बढ़ें तो यह प्रथम जो नाशका स्थान है उससे दूर हो जायेंगे। दूसरी सावधानी यह चाहिए कि हम खोटी संगति न करें। जो

पहुंच गया, फिर वहाँसे गिर जाय, सम्यक्त्व भी छूट जाय और स्थावरों में जन्म लेना पडे तो प्रमाद होने पर, कषायें जगने पर इतनी भी दुर्दशा हो जाती है तब मनुष्य होनेका कोई एक मौज मत मानो कि अब हमने सब कुछ पा लिया, हमसे बढकर और कौन है, हम हर तरहसे चतुर हैं ऐसा गर्व मत करो। पता नहीं इस भवके बाद फिर कौनसा भव बिताना पडे। यदि ज्ञान न जगा, कुछ संयम मार्गमें न चले, अपनेको संयत न बना सके तो सन्मार्ग छूट जायेगा।

आत्महितमें गृहीतमिथ्यात्वकी प्रबल बाधकता—एक गृहीत मिथ्यात्व होता है। वह तो बहुत अधिक प्रबल बाधक है। कभी इस जीवको उत्तम मार्ग मिले तो उसे भी यह छोड़ देता है। गृहीत मिथ्यात्वके मायने हैं जान बूझकर उपदेश सुनकर समझकर, पढ लिखकर कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्रकी प्रीति करना इसका नाम है गृहीत मिथ्यात्व। आप देख लो रागी द्वेषी देवताके मानने वाले कितने मजहब हैं किन्तु उनका संकल्प कितना उसी ओर लगा हुआ है, उन्हें कोई समझाये तो उल्टा वे दूसरेको मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मानते हैं और अपनी जो प्रवृत्ति है उस गृहीत मिथ्यात्व सम्बंधी उस ही में वे अपनी चतुराईकी प्रवृत्ति मानते हैं। अब जरा अपनी वर्तमान स्थिति पर तो कुछ दृष्टि कीजिए, कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र, कुधर्म इनकी मान्यता भी नहीं रही, तो इतनी तक सुविधाएँ हैं, ऐसा सुन्दर वातावरण मिला है और फिर भी हम ज्ञानोपयोगका यत्न न करें तो यह सब हमारा आलस्य है और हमें ही दु ख देने वाली बात है। यहाँ देख लो २४ घंटेमें कितना समय व्यर्थ नष्ट होता है ? लोगोंको धन कमानेसे बडी प्रीति है किन्तु धन कमानेमें भी कितना समय लगाते हैं। बहुत-बहुत समय लगाने पर भी ४-६-८ घंटेका ही समय लग पाता है। बाकी समयका क्या उपयोग है आप लोगोंका, अपनी चर्चामें विचार लो किन्तु ऐसी मनमें स्वच्छन्दता है कि समय तो खो देंगे नाना प्रकारसे, पर ज्ञानार्जनके लिए ज्ञानदृष्टिके लिए कुछ समय न बचा सकेंगे।

ज्ञान दृष्टिसे शान्ति लाभ—भैया शान्ति मिलती है जिस किसीको भी तो एक ज्ञानदृष्टिसे मिलती है। जब यह जीव अपनेको इससे न्यारा केवल ज्ञानज्योति मात्र निर्लेप असहाय अकेला जब ज्ञान दृष्टिमें लेता है तो उसके पास कोई विपत्ति नहीं फटकती। लोगोंको तो यह विपदा लगी है कि लोग क्या कहेंगे ? जिनमें हम रहते हैं वे क्या कहेंगे ? अरे ज्ञानी के तो यह साहस जगना कि जिनमें हम रहते हैं वे यदि अज्ञानी हैं तो उनके कहनेका बुरा क्या मानना, और यदि वे ज्ञानी हैं तो हम जितना उपेक्षा में चलेंगे, वैराग्यमें चलेंगे वह तो सराहना करने वाला होगा। तो अपना

हीन आचरणी हैं, मोहीजन हैं, जिनका कोई शुद्ध लक्ष्य नहीं है ऐसे जनों की सगतिसे ही अपने भावोंमे कमजोरी आती है। और नष्ट हो सकते हैं। तीसरी सावधानी यह चाहिए कि अपना मनोबल अपना निश्चय दृढ़ हो कि कोई लौकिक चमत्कार वाला भी हो तो भी उससे आकर्षित न हों, ये तो सब ससारके खेल हैं, कोई किसी बातमें बढ़ गया, लौकिक चमत्कारमें बढ़ गया तो उससे आत्माकी सिद्धि नहीं है। मुझे लौकिक चमत्कार न चाहिए, मुझे इस जगतमें बड़प्पन न चाहिए। मुझे तो आत्महित चाहिए। यह मेरा आत्मा अपने स्वरूपसे जैसा सहज सिद्ध है वही स्वरूप चाहिए। ऐसी अपने शुद्ध लक्ष्यकी दृढ़ता बने कि कदाचित् कोई लौकिक चमत्कारक पाखण्डी साधुवों अथवा अन्य उपदेष्टावोंके भी चक्रमें न आ सके। इस प्रकार सावधानीपूर्वक जो अपने रत्नत्रयमें बढ़ता है उसको कहीं हानि नहीं हो सकती है।

त्यक्त्वा विवेकमाणिक्य सर्वाभिमतसिद्धिदम्।
अविचारितरम्येषु पक्षेष्वज्ञः प्रवर्तते ॥२३८॥

अज्ञानीका प्रवर्तन—किसी भी स्थानसे यह भ्रष्ट हो, लेकिन देखो तो आश्चर्यकी बात कि सर्व प्रकारकी मनोवाञ्छित सिद्धिको देने वाला विवेक पाया था। उस विवेकरूपी चिन्तामणि रत्नको छोड़कर जो यों ही केवल देखनेमें भले लगते हैं, ऐसे मतोंमें लोग प्रवृत्ति करने लग जाते हैं। यही तो मार्गसे भ्रष्ट होना है। जैन दर्शनने कैसा सुयोग्य विधिसे इस जीवको बाहरी कुतत्त्वोंसे छुटाकर अज्ञान अधकारसे हटाकर अपने ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मामें स्थिर कराया है। यह दृश्यमान सारा ससार, ये सभी पदार्थ इसके सम्बन्धमें जब तक सही निर्णय न हो तब तक इससे रागद्वेष नहीं हट सकते। भले ही कोई किसी भी लोभसे भगवत्भक्तिके लोभसे किसी भी प्रकारसे रागद्वेषसे दूर रहनेको अपना रुपक बनाये, लेकिन जब तक पदार्थका हमें सही स्वरूप ज्ञात न हो जाय तब तक कैसे राग हट सकता है? प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, अपने ही स्वरूपसे है, किसीका किसी पर अधिकार नहीं है। जितने उनके प्रदेश हैं, जितना उनकी एरिया है निज का उतनेमें ही मेरा सब कुछ है। ऐसे ही मेरे भी जितने प्रदेश पुञ्ज हैं उनमें ही मेरा सब कुछ है। गुण है, परिणमन है, सब कुछ मेरा उतनेमें ही है, इससे बाहर नहीं है। यों ही समग्र वस्तुवोंका स्वरूप जिस ज्ञाताकी नजरमें रहता है उसका राग स्वयं हटा हुआ होता है।

परवस्तुमे परिणमन करनेकी अशक्यता—मैं परवस्तुमें क्या कर सकता हूं? कौन मेरा है? आज मान लिया किसी वस्तुको कि यह मेरी है, बल्कि दिन इस जीवन तक मान रहे हैं कि यह वैभव मेरा और मरणके बाद

किस पर विश्वास रखते हो कि यह वस्तु मेरी है। प्रथम तो उदय अनुकूल न होने पर इस जीवनमें भी कोई आखें दिखा सकता है। तो मेरा तो इस जगतमें देह तक भी नहीं है। कौन चाहता है कि शरीर बूढ़ा बन जाय ? सभी लोग चाहते होंगे कि शरीर स्वस्थ और जवान रहे, पर इस शरीर पर किसीका वश चला है क्या ? कौन चाहता है कि मेरा शरीर दुर्बल हो जाय, यत्न भी बहुत बहुत करते हैं, पर शरीर पर कुछ वश चलता है क्या ? भले ही निमित्तनैमित्तिकवश शरीरकी स्थिति है बलवान है लेकिन वह मेरे करनेसे नहीं है। वह उसका निमित्तनैमित्तिक भाव है। जब जैसा निमित्त उपादान, जब जैसा परिणमन तब तैसा होता रहता है। मेरा अधिकार नहीं है। जब किसी वस्तुपर मेरा अधिकार नहीं है तो किसको माने कि यह मेरा है ? यह अज्ञान सबसे जबरदस्त विपदा है। किस पदार्थको माने कि यह मेरा है।

वस्तुस्वरूपके यथार्थ बोधसे मोहादिक दोषोंका परिहार—जब वस्तु स्वरूपका सही बोध होता है तब ही मोह और राग मिट सकते हैं, अन्यथा अनेक उपाय करें, राग और मोह न मिट सकेंगे। कुछ लोभ दे दिया, तुम राग छोड़ दोगे तो स्वर्ग मिलेगा, मोक्ष मिलेगा। भले ही कोई स्वर्ग और मोक्षके लोभसे यहाँके घरका वैभवका राग छोड़ दे अर्थात् त्याग कर दे, छूट जाने पर भी छोड़ा तो नहीं गया। यथार्थ ज्ञान हुए बिना राग और मोह छूट नहीं सकते। सही ज्ञान होने पर राग मोह छोड़नेके लिए कुछ श्रम भी नहीं करना पड़ता है। सही ज्ञान होनेका ही नाम है मोह छूट जाना। शुद्ध ज्ञानका नाम है निर्मोह होना। तो निर्मोहतासे तो धर्मका प्रारम्भ है और निर्मोहता यथार्थ ज्ञान बिना हो नहीं सकती, इसलिए यथार्थ ज्ञान करनेका उद्यम करना चाहिए।

व्यवहार धर्मोंमें उद्देश्यकी लक्षितता—हमारे जितने भी धर्मके काम हैं, पूजा, स्वाध्याय, विधान, समारोह जितने भी धर्मके कार्य हों उन सब धर्मोंके कार्योंमें हमारा यह लक्ष्य होना चाहिए कि हम यह सब इसलिए कर रहे हैं कि मुझे यथार्थ ज्ञान मिले। रोज-रोज पूजा करनेकी जरूरत क्यों पड़ती है ? इसलिए कि हमारा शेष समय रागद्वेषके बीच गुजरता है और जीव इसका जो कुछ ज्ञान कर पाया था उस पर आवरण हो जाता है। तब उस ज्ञानको फिरसे जागृत करनेके लिए हम प्रभुदर्शनको प्रभुपूजनको आया करते हैं। यहाँ भी हमारा लक्ष्य यह हो कि हम सही जानकारी करनेके लिए आ रहे हैं। सही जानकारीमें ही प्रभुकी भक्ति करना है। यदि अन्य कुछ भाव बनाया, हमारा काम है, हमारा नियम है, मंदिर जाना इसलिए जा रहे हैं, हमारे कुलकी यह परम्परा है इसलिए

वे धर्मका रूप देते हैं। इन्द्रियविषयोंका ही वे सेवन करते हैं। तो यह तो लोकमें होता ही रहता है मिथ्यात्वके वशीभूत होकर, लेकिन जिसको कुछ भी विवेक उत्पन्न हुआ है उसे अपने विवेकका सही उपयोग तो करना चाहिए। जगतमें जो कुछ भी हो रहा है वह तो एक जगतका स्वरूप है। यहाँ तो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याआचरणका ही प्रताप है उसी पर यह सारा संसार टिका हुआ है। तो बहुतायतमें लोग कैसे हैं, उनकी बातें निरखकर हमें अपना निर्णय नहीं बनाना है। जैसे किसी-किसी राज्यमें प्रजाकी राय पर राज्याधिकारी चुने जाते हैं, ठीक है, यह लौकिक बात है लेकिन मुक्तिके प्रसंगमें हम यदि बहुमत देखकर अपने पग धरें तो क्या हमारे सही पग उठ सकेंगे? धर्मके लिए अपने हितकी प्रवृत्तिके लिए हम लोकमें यह देखें कि सब लोग जैसा करते हों वह सही है। तो सब लोग तो मोह करते हैं, राग करते हैं, पक्ष करते हैं। सरासर जिनमें राग है वह अपराधी ही है किन्तु उसका समर्थन करते हैं। निरपराधोंका समर्थन कौन करता है मोहवश? तो लोग जो कुछ करते हैं उसे देखकर हम यह निर्णय बनायें कि हमें क्या करना चाहिए, तो हमारा निर्णय हितका नहीं बन सकता।

स्वके अनुशासनमें विवेककी आवश्यकता—यहाँ तो अपना विवेक चाहिए। उससे निर्णय करिये। दुनिया तो सब मिथ्यात्वमें मोहमें पगी हुई है उनके कार्योंको देखकर हम अपने कर्तव्यका क्या निर्णय बनायें? यह सारा जगत प्रायः जिह्वा इन्द्रिय और स्पर्शन इन्द्रियसे प्रेरित है और वह इस कारणसे अधमसे अधम रसोंका पालन करता है। विषय कषायोंसे तो सारी दुनिया परेशान है। धर्मका नाम लेकर भी विषय कषायोंका सेवन जहाँ बता दिया गया है वह तो एक बड़े अनर्थकी बात है। जैसे मांस खानेका तो चाव है और लोकमें अपनेको बड़ा जतानेका भी मनमें चाव है तो मांसादिक खाते रहें और लोकमें धर्मात्मा भी कहाते रहें, इसका उपाय उन्होंने क्या ढूँढा है, यज्ञ है, बलि है, देवी देवताके नाम पर किसी पशुका घात कर दिया, फिर उसे यह देवीका प्रसाद है, फलां देवका प्रसाद है ऐसी बातें सुनाकर उस मांसका भक्षण करते हैं और कराते हैं। तो यों विषयोंका पोषण भी करते रहें और धर्मात्मा भी कहाते रहें। तो ऐसी बातें होना यह सब तीव्र मिथ्यात्वका फल है ऐसे पक्षोंमें अज्ञानी जीव ही प्रवृत्त होते रहते हैं। एक हिंसाकी ही बात नहीं, सभी प्रकारकी प्रवृत्तियां धर्मके नाम पर करते हैं, यह सब मिथ्यात्वका परिणाम है। जो कुछ भी अपना धर्म माना, मजहब पंथ माना उस पक्षका पोषण झूठ बोलकर भी करना पड़े तो वह भी धर्म है, ऐसा धर्मके नामपर जो घोषित

आ रहे हैं, अथवा मंदिर जानेसे ये सब धर्मके काम होते रहनेसे परिवारमें सुख साता रहती है हमारे आजकल बहुत अच्छे दिन गुजर रहे हैं यह सब इन्हीं भगवानकी कृपा है, तो ऐसा अपना रोज-रोज प्रभुभजनका काम रहना चाहिए। इन बातोंसे ही यदि हम मंदिरमें आते हैं तो हमें मोक्ष-मार्गका लाभ नहीं मिला। भले ही कुछ मंद कषाय होनेसे पुण्यबंध हुआ अथवा इसका भी क्या ठिकाना ? यह भी मंदकषाय है या तीव्र इसका भी सही निर्णय नहीं है क्योंकि जो अपने परिवारकी सुख समृद्धिके लिए प्रभुभजन करते हैं सम्भव है कि मोह और तृष्णाकी वृद्धिका कारण हो, तब वहाँ पुण्यकी भी आशा क्या ? लक्ष्य अपना यह विशुद्ध होना चाहिए कि हम मंदिर आते हैं तो अपनी और परकी सही जानकारी बनानेके लिए आते हैं और निजको निज परको पर जानकर, परसे छूटकर निजमें मग्न होनेका यत्न करनेके लिए आते हैं। यह हमारा भाव होना चाहिए प्रत्येक धार्मिक कार्योंके करनेमें।

वर्तमान समागमका सदुपयोग व आत्महितके उद्यमका अनुरोध—बोधि दुर्लभ भावनामें यहाँ यह बतला रहे हैं कि ऐसी अत्यन्त दुर्लभ चीज पायी, जैन शासन पाया, बुद्धि शुद्ध पायी, सब कुछ सही मिला, जिससे कुछ थोड़ा ही और विशुद्ध उद्यम बने कि पूर्ण अभीष्ट जो आत्मा वहाँ स्थित है वह प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन ऐसा पापका उदय आता है कि अच्छे साधनोंको भी त्यागकर केवल एक अविचारित रम्य अर्थात् जो बिना विचारे ही भलेसे लग रहे हैं ऐसे पक्षोंमें यह अज्ञानी जीव प्रवृत्त होता है। यहाँ बारबार यह चेतावनी देनेकी प्रेरणा की है कि हे मुमुक्षु पुरुष अथवा हे शान्ति चाहने वाले पुरुष ! आज जो कुछ तुम्हारी परिस्थिति है, जो कुछ तुमने पाया है यह बहुत अच्छी स्थिति है इसका सदुपयोग करो। विषय कषायें सांसारिक बाधायें न चाहकर केवल एक आत्महितमें उद्यमी बनो। यदि यह अवसर छोड़ दिया तो पुनः ऐसा सुन्दर अवसर आना श्रेष्ठ धर्म, श्रेष्ठ कुल, श्रेष्ठ संगति इन सबका मिलना बहुत कठिन हो जायगा।

> अविचारितरम्याणि शासनान्यसतां जनैः ।
> अधमान्यपि सेव्यन्ते जिह्वोपस्थादिदण्डितैः ॥२३६॥

अधम पुरुषोंके द्वारा अविचारितरम्य शासनोंका सेवन—परिणामोंमें कलुषताको उत्पन्न करने वाली मुख्य दो इन्द्रियां हैं, एक जिह्वा इन्द्रिय और एक स्पर्शन इन्द्रिय। इन दोनों इन्द्रियोंसे दण्डित होकर यह जीव अधमसे भी अधम अविचारित रमणीक शासनका सेवन करता है। अर्थात् कुछ मजहब ऐसे भी हैं जिनमें वैराग्य और ज्ञानकी कुछ बात ही नहीं सिखाई

सुलभमिह समस्तं वस्तुजात जगत्या उरगसुरनरेन्द्रैः
प्रार्थितं चाधिपत्य। कुलबलसुभगत्वोद्दामरामादि
चान्यत्, किमुत तदिदमेकं बोधिरत्नम् ॥२४१॥

बोधिरत्नकी दुर्लभता—इस संसारमें सभी चीजोंका मिलना सुलभ है किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप परिणामका मिलना दुर्लभ है। शान्तिका कारण कोईसा भी परपदार्थ नहीं है, बल्कि पर-पदार्थोंका सम्बन्ध तृष्णाका कारण है और असन्तोषका कारण है। जितना मिला उससे अधिक और मिलना चाहिए, बस इस धुनमें मिले हुएका भी सुख नहीं भोग सकते हैं। इस संसारमें जितने भी ऊँचे-ऊँचे पद हैं, लौकिक सुखके जो साधन हैं, धरणेन्द्र होना, सुरेन्द्र होना अथवा इनके जो अधिपति हैं उनसे भी बढ़कर जो अधिपति हैं वे सब सुलभ हैं। कर्मोंके उदय से ये सब मिलते हैं जिसका वर्णन अभी इस बोधिदुर्लभ भावनामें किया है। उत्तम कुल मिला, बल मिला, सुन्दरता मिली, अच्छी बुद्धि मिली, दीर्घ आयु हुई, ये सब सुलभ हुए किन्तु बोधिरत्न पाना अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसा ज्ञान मिलना जिस ज्ञानके प्रतापसे यह आत्मा संसारके समस्त संकटोंसे छूटकर संकट रहित निर्वाण पदमें जा विराजे, ऐसा भाव मिलना यह एक दुर्लभ चीज है। आज तक संसारमें भ्रमण करते हुए क्या क्या नहीं पाया? जो आज समागम मिला है इससे करोड़ों गुना समागम पाया। बडे बड़े महाराजा भी हुए, देव भी हुए, सभी लौकिक बातें पायीं, किन्तु एक सम्यग्ज्ञान नहीं पाया।

यथार्थ ज्ञानमें अशान्तिके कारणका अनवकाश—भला जिस ज्ञानमें समस्त पदार्थोंका सही स्वरूप आ रहा हो, प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र हैं, अपने अपने प्रदेशोंमें ही हैं, अपने ही परिणमनसे परिणमते हैं। किसीका कोई अधिकारी नहीं है। जैसे सामने दिखने वाले जो पदार्थ हैं चौकी है, पुस्तक है, घड़ी है, ये सब न्यारे न्यारे नजर आ रहे हैं, ऐसे ही जितने भी द्रव्य हैं वे सभी द्रव्य न्यारे न्यारे स्वयं अपने ही अपने गुण पर्यायमें हैं, अपने ही प्रदेशोंमें हैं। किसीका किसी दूसरेमें कोई अधिपत्य नहीं है ऐसा नजर में आये जिस ज्ञानमें उसमें अशान्तिका कोई कारण नहीं है। अशान्ति होती ही तब है जब किसी परपदार्थ पर हमारा आकर्षण हो, उसे हम चाहते हों, उससे सुख मानते हों, उससे अपना बड़प्पन समझा हो और वह चूँ कि है नहीं मेरा, वास्तवमें भिन्न है, अपनी सत्ता अलग रखता है तो जब उसे रहना हो रहेगा, जाना हो जायगा और जिस तरह उसे परि-णमना होगा परिणमेगा, हम उसको देखकर दुखी क्यों हो, हाय ऐसा क्यों न हुआ? तो जगमें सभी चीजें सुलभ हैं, परन्तु सम्यक्त्वका पाना, रत्न-

करते हैं यह भी धर्मके नामपर एक अधम मत बनाया गया है। कई जगह मन्दिरोंमें सुना, उनका नाम देवदासी रख देते हैं तो विषयोंके पोषणकी प्रवृत्ति जहा बतायी गयी हैं ऐसे अधम मतोंमे अज्ञानी जीव ही प्रवृत्ति करते हैं और उनकी प्रवृत्तिका कारण है यह कि वे अपनी इन्द्रियोंको नहीं जीत सके।

सुप्राप न पुनः पुंसा बोधिरत्नं भवार्णवे।
हस्ताद्भ्रष्टं यथा रत्नं महामूल्यं महार्णवे ॥२४०॥

बोधिरत्नको भ्रष्ट न होनेका अनुरोध—ससाररूपी समुद्रमें बोधिरत्नको अब तक नहीं पाया। बोधिका अर्थ है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय। रत्न क्योंकि समुद्रमें उत्पन्न होते हैं इसीलिए जहा हम रह रहे हैं उसे रत्नसमुद्र कहा है। निज रत्नसमुद्रमेंसे रत्न निकाल ले तो विवेककी बात है। इस संसारमें ये रत्न भी मिल सकते हैं और मिलते ही यहा हैं, उस रत्नत्रय पर चलना भी यहीं है, जो भी चल सके, मगर इसका प्राप्त करना अति कठिन है। कितना गहरा समुद्र और जहा अनेक भयकर जलचर, ग्राह, मच्छ, मगर, मौजूद हैं, जहा भयकर लहरें उठा करती हैं ऐसे समुद्रके बीचसे रत्नोंका निकालना कितना कठिन है? इसी तरह हम ससारसागरमें जहाँ अनेक व्याधि रोग दु ख आदिक लहरें, भवरें उठ रही हैं, जहा अनेक प्रकारके रागद्वेष मोहमे जलचर मच्छ, ग्राह, मगर खानेके लिए उद्यत हैं, जो कालकी अपेक्षा, क्षेत्रकी अपेक्षा, भावकी अपक्षा बहुत विशाल हैं ऐसे ससारमें बसकर कोई सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन रत्नोंको प्राप्त कर सके, उन्हें ले सके यह बात कितनी कठिन हो सकती है, बहुत कठिन बात हैं, अत्यन्त दुर्लभ है, लेकिन कोई जीव ऐसे दुर्लभ भी रत्नको पा ले और फिर खो दे, नष्ट कर दे अपनी कमजोरीसे अथवा भ्रष्टोंकी सगतिसे अथवा पाखंडियोंके उपदेशसे उस रत्नको खो दे तो यों समझिये जैसे हाथमें रखे हुए रत्नको कोई समुद्रमें डाल दे तो फिर मिलना अत्यन्त कठिन है। इसी प्रकार इस बोधिको पाकर इस बोधिको विषय कषायोंमें खो दे तो इसका पाना अत्यन्त दुर्लभ है। हम आप वर्तमानमें बहुत अच्छी स्थिति पर हैं। नरक निगोद जैसी विचित्र गतियोंसे निकल आये, आज सब कुछ अच्छे साधन पायें हैं, लेकिन प्रमाद किया, उस आत्मतत्त्वकी प्रीति न रखी, यों ही समय गुजर गया तो फिर ऐसा मौका मिलना बहुत कठिन है। ऐसा समझकर हमें इस आत्मधर्ममें प्रीतिपूर्वक बढना चाहिए। इसका यथार्थ ज्ञान करें और ज्ञानदृष्टि बनाकर अपने आपमें तृप्त रहनेका यत्न करना चाहिए।

विनाश नहीं है, कभी नष्ट नहीं होता। रूप बदल जायगा। यदि ज्ञानमय आत्मपदार्थ इस शरीरमें है और कुछ समय बाद नहीं रहता तो उसीका नाम मरण है सो दूसरेको देख देखकर भी हम यह निर्णय नहीं रखते कि हमारा भी यही समय अति निकट आनेको है जब हम भी इस मनुष्य देह को त्यागकर चल बसेंगे। आज जो मौका मिला है, बुद्धि मिली है तो हम धर्मके लिए, ज्ञानार्जनके लिए क्यों न अधिकसे अधिक अपना उपयोग करें ?

बाह्य वैभव आकर्षणकी व्यर्थता—भैया बाहरी चीजें, वैभव पैसा कमाना अपने पुरुषार्थके आधीन बात नहीं है। यहां कर्मोदय साथ रहता है तभी तो यह बात है कि बडे बडे पुरुषार्थ करने पर भी किसीके पास यह धन नहीं आता और कोई कोई लोग आरामसे बैठे रहते हैं फिर भी बहुत धन आता है। तो यह धन वैभव बहुत बहुत श्रम करनेसे जुड़ जाय ऐसी बात नहीं है किन्तु धर्मकी बात आपके पुरुषार्थसे तत्काल होती है, जब आप अपने स्वरूपका श्रद्धान करते जायेंगे, उसका ज्ञान करना चाहेंगे, उसकी रुचि रखेंगे तो अपने उपयोगको अपने आपमें डुबाने भरकी ही तो बात है। धन वैभवका कमाना अपने हाथकी बात नहीं है और अपने आपमें मग्न होना, धर्म पालन करना और स्वाधीन आनन्द भोगना यह अपने हाथकी बात है। तो जो स्वाधीन बात है, सुगम है उस ओर तो हम दृष्टि नहीं देते और जो पराधीन है उसमें हमें अपना आकर्षण रखते, नाता जोड़ते हैं, यह हालत है। सो यहाँ किसको क्या बताना ? सभी लोग जो दृश्यमान हैं कुछ दिन जी कर मरेंगे और ये भी माया रूप हैं ये खुद मोही रागी हैं, कर्म कलंकसे मलीमस हैं। कोई प्रभु है क्या यहाँ ? ये कोई काम न आयेंगे। ऐसे इस लोकमें हम बड़े हैं, हम धनाढ्य हैं, गुणी हैं, नेता हैं, ऐसा कुछ भी दिखायें तो किसलिए दिखायें ? क्या ये प्रभु हैं, क्या इनके हाथमें हमारा सुख दुःख है ? कुछ भी तो नहीं है। हमें अपने ढंगसे चलना है और ढंगसे चलते हुएमें निमित्त होते हैं तो हों। धन आता है सो आये, पर हम किसीको रिझानेके लिए, किसीको खुश करनेके लिए, किसीसे प्रशंसा लूटनेके लिए हम कुछ करनी करते हैं तो वह बड़ा अंधकार है, अज्ञान है, अपने आप का ही कुछ पता नहीं है, सुध नहीं रही, फिर तो दुनियाको दिखानेके लिए हमें कुछ नहीं बनना है।

शान्तिके अर्थ सुबोधका उद्यम—भैया अपने आपको मैं कैसे शान्तिमें लगा सकता हूं, क्या ज्ञान बनाना है, किस प्रकारका आचरण करना है ? यह निर्णय करें और उस तरहसे रहें, फिर जो होना है सो होने दो। सबसे

नयका पाना यह एक दुर्लभ है।

दुर्लभ बोधि प्राप्त करके परोपेक्षण करनेका अनुरोध— यह बोधिदुर्लभ भावना है जिसमें यह भावना भायी है कि देख भाई तू कभी निगोदमें था, वहाँसे निकलकर एकेन्द्रियमें, फिर दो इन्द्रियमें, तीन इन्द्रियमें, चार इन्द्रियमें, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तमें, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तमें, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तमें, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तमें पैदा हुआ। यहाँ तक तिर्यञ्चमें ही रहकर इतनी उन्नति की थी। वहासे निकलकर अन्य-अन्य गतियोंमें गया और फिर सबसे श्रेष्ठ जो मनुष्यगति है उसमें तू आ गया। देखिये कितनी निकृष्ट स्थितियोंसे उठ कर तू आज इतनी ऊँची स्थितिमें है। मनुष्यमें भी तू पर्याप्त है और फिर गुणसम्पन्न है, उत्तम देश जाति वाला है, आयु भी विशेष मिली है, साधन भी आजीविकाके सही है, बुद्धि भी उत्तम है, शान्त परिणाम भी मिला है। अब केवल एक ही बातकी कमी है कि ऐसी स्वच्छ श्रद्धा बने जिससे कि तू तत्त्व-निर्णय कर ले। सब कुछ पाया पर तत्त्वनिर्णयकी बात नहीं पायी। तत्त्व-निर्णयमें ही बोधि भरी है। उसीमें सम्यक्त्व है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यक्चारित्र है। जैसे हम इन चीजोंको निरखते हैं और निरखकर बताते यह हैं ऐसे ही अपने ही में लगे हुए देहको निरखकर यह उपयोग क्यों नहीं जमता कि यह देह शरीर परमाणुवोंका पुञ्ज है, यह मैं नहीं हूं। मैं जानन देखनहार इस शरीर गृहमें रहता जरूर हूं इस समय, पर शरीर ही मैं नहीं हूं। इतना भी निश्चय नहीं दूसरोंको मरते हुए भी देख कर कि यह जीव न्यारा है, इस शरीरको छोड़कर चल देता है।

शरीरसे भिन्न जीवतत्त्वका निश्चय—कोई यह कहे कि शरीर छोड़कर क्या चल दिया, जीव कोई है ही नहीं। शरीरमें जब तक कर्म हैं उसका नाम जीव रख दिया। जीव अलग कैसे? तो इस पर युक्तियां देखिये, जितने भी जड़ पदार्थ हैं उनके स्वभाव पड़ा है, उनका कैसा भी मिलान हो जाय, किन्तु जड़से ज्ञानकी उत्पत्ति हो जाय यह युक्तिमें नहीं बैठता। जिस पदार्थका जो स्वरूप है वह स्वरूप सदा रहता है। जड़में जड़ता सदा रहेगी, जीवमें ज्ञानस्वरूपता सदा रहेगी। यदि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनके मिलनेसे जीव उत्पन्न हो जाय तो रसोई बनाते समय किसी मिट्टीके बर्तनमें खिचड़ी पक रही है तो उस समय क्या कमी रह गयी? पृथ्वी भी है, जल भी है, अग्नि भी है, हवा भी है। वहासे क्यों नहीं मनुष्य निकल पड़ते? वहासे क्यों नहीं पशु पक्षी उत्पन्न हो जाते? जीव तो अपनी एक स्वरूप सत्ता रखे हुए है। है ना जीव। इतना तो मानोगे कि ज्ञानमय कोई चीज है। अब जो चीज होती है उसका त्रिकाल

मायने निर्मल हो जाते हैं। तो पूछ तो यह रहे हैं कि आप प्रसन्न हैं ना, विकार तो नहीं हैं चित्तमें और उत्तर क्या देते, हैं खूब काम चल रहा है, लड़के बच्चे बहुत हैं, हम बहुत प्रसन्न हैं। सारी मलिनता की बातें बताते हैं। तो शब्दका मर्म न जाननेसे तो बिल्कुल बहरेकी तरह हैं। जैसे कोई बहिरा था, बाजारसे बैंगन खरीद कर चला। रास्तेमें उससे एक किसानने पूछा और कुछ, उसने जवाब दिया और कुछ। किसानने पूछा—आप कहां जा रहे हैं? उत्तर दिया—हम बैंगन लिए जा रहे हैं। फिर पूछा घरमें बाल बच्चे अच्छे हैं ना? तो उत्तर दिया—सारोंको भूनकर खायेंगे। तो ऐसे ही पूछते हैं कुछ, उत्तर कुछ देते हैं। शब्दोंमें सारे उपदेश भरे हैं। कोई सा भी शब्द ले लो। वह शब्द ही अपना स्वरूप बता देता है।

आत्मा व पुद्गल शब्दसे उन पदार्थोंके मर्मका दिग्दर्शन—आत्माका अर्थ क्या है? जो ज्ञान द्वारा सारे लोकको व्याप ले उसे आत्मा कहते हैं। आत्मा आत्मा सब कहते हैं, पर आत्माका स्वरूप क्या है, यह स्वरूप शब्द ही बतला देता है। ये जो जड़ पदार्थ रूप, रस, गंध, स्पर्श हैं इन पदार्थोंका नाम क्या है? इनका नाम दिया है जैन शासनमें पुद्गल। अब इनको कोई पदार्थ बोलेंगे। तो पदार्थ तो जीव भी होते हैं, कोई मैटर बोलेंगे। अरे तो मैटर, पदार्थ, वस्तु ही तो हुए। अब पुद्गलका अर्थ समझो—इसमें दो शब्द भरे हैं जो पूरे और गले उसका नाम पुद्गल है। अर्थात् जो मिलकर बढ़ जाय और घटकर गल जाय उसका नाम पुद्गल है। ये पदार्थ मिल मिलकर एक बन जाते हैं पर जीवमें यह खासियत है कि जीव जीव मिलकर एक नहीं बन सकते, बढ़ नहीं सकते। और जब मिल सकते तो गलनेकी तो बात ही क्या है? धर्मद्रव्य है वह भी मिलता गलता नहीं, कालद्रव्य भी मिलता बिछुड़ता नहीं है। एक पुद्गलके ये परमाणु ऐसे हैं कि ये मिलकर एक पिण्ड बन जायें और बिछुड़कर गलकर अलग-अलग हो जायें यह विशेषता जिसमें हो उसका नाम है पुद्गल। कोई कहेगा भौतिक पदार्थ। भौतिकका अर्थ क्या है? जो भूतसे बना है भौतिक। भूत भू धातुसे बना है। जो है उसका नाम है भूत। जो सत् हो। यह सत् नाम चलता है हर जगह तो भूत शब्दसे विशिष्ट पदार्थ तो वाच्य न हुआ। जैन शासनमें जो जो मूल नाम रखे गए हैं परिभा[illegible]
विचारोंसे भरे हुए हैं? इस समय हम आप जो एक[illegible]
जीव तो एक है, पर मैं अपने आपका जीव हूं[illegible]
हैं। जीव तो एक है और अनन्त शरीरके[illegible]
के परमाणुओंसे भी अनन्त गुने कर्मोंका ढेर[illegible]
जो एक पर्याय है यह अनन्त शरीर[illegible]

उत्कृष्ट चीज है तो अपने आपकी सुध रहना, अपनी ओर झुकाव रहना। लोकमें भी जब बड़े-बड़े संकट आ जाते हैं उन संकटोंके समयमें कौन साथ देता है? खुद ही भेद विज्ञान करते हैं और परवस्तुवोंसे अपनी दृष्टि हटाकर अपनेमें विश्राम करते हैं तो शान्ति मिलती है। अशान्ति है किस बातकी, सिवाय इस कथनके इस बातमें और कुछ न पायेंगे कि अमुकको परद्रव्योंमें राग है, मोह है इस वजहसे उसे दुःख है। जितने भी दुनियामें दुःख हैं उन सबका कारण इतना ही है कि किसी न किसी परद्रव्यमें राग है सो उसे दुःख है। जगतमें सभी दुःखी हैं और सबकी रिपोर्ट ले लो। सबके दुःखकी कहानी सुन लो और बराबर निर्णय देते रहो, देखो इससे अत्यन्त भिन्न है परद्रव्य, पर उसके प्रति राग भाव है उसको सो उसे दुःख है। और यह व्यर्थका दुःख है। मैं तो एक स्वतंत्र आत्मामें हूं, मेरा किसी परद्रव्यसे कुछ सम्बंध नहीं है। यदि ये परद्रव्य पास रहें तो इससे आत्माका बढ़ावा हो जायगा और न रहें तो इस आत्माका क्या घट जायगा? आत्मामें जितनी शक्तियां हैं ज्ञान, दर्शन, आनन्द जितने भी गुण हैं क्या उनमें कोई गुण कम हुए हैं आज तक, क्या स्वरूप बदला है, क्यों पदार्थ अपने लक्षण को कभी छोड़ सकता है? क्या दुःख है, क्या क्लेश है। अजी लोग मुझे क्या समझेंगे यह अब कुछ नहीं रहे, इसका दुःख है। तो अज्ञान होनेका ही तो दुःख हुआ। तुम्हें क्या लोगोंसे पड़ी है, ये लोग करेंगे क्या तुम्हारा? अपने आपको झुकाव बने अपनी ओर मुड़ जावो। आज मनुष्य हैं सो ऐसी बातें हाँकते हैं और मनुष्यका लिहाज करते हैं। इनमें अपनेको बड़ा जताना चाहते हैं। कल्पना करो कि आज मनुष्य न होते, किसी बिलके चींटी चींटा होते तो हमारे लिए मनुष्योंका रुझान क्या होता? समझ लो हम इस मनुष्य भवमें होते, अन्य किसी भवमें होते तो यहाका दृश्यमान कुछ भी मेरा न होता ना? हो गए मनुष्य तो अब लौकिक आकर्षणकी बात छोड़कर जिस में आत्महित हो उस बात में लग जावो।

सभी चीजें इस जीवने अनेक बार पायीं, पर रत्नत्रय नहीं पाया। देखिये-लोग पूछते हैं कि आपका स्वास्थ्य कैसा है? तो क्या पूछा कि आप अपने आत्मामें कैसे ठहर रहे हैं, ठहर पाते हैं या नहीं? यह अर्थ है, पर यह सुनने वाला अपने शरीरको निरखकर मूछों पर ताव देकर कहता है हां मैं बहुत स्वस्थ हू। अरे पूछा तो कुछ और उत्तर कुछ दिया। पूछते हैं लोग कि आप प्रसन्न हैं ना, तो क्या है प्रसन्नका अर्थ? जो शब्दका अर्थ जानते हैं समझ जायेंगे। प्रसन्नका अर्थ है निर्मल होना, निर्दोष होना। जैसे बताते हैं कि शरदऋतुमें तालाब प्रसन्न हो जाते हैं

जीव दुःखी है। जो घर मिला है, जो समागम मिला है वह समागम मेरे पास रहेगा ऐसी अगर श्रद्धा है तो उसे दुःख होगा क्योंकि मान रखा कि यह नित्य है, किन्तु वह अपने समयपर मिटेगा। तो भावना कुछ हो, बात बन जाय कुछ, उसका दुःख होता है। जैसे कोई चीज आपने आज खरीदी और ख्याल बनाया कि इसमें तो १० हजार बचेंगे, कलके दिन उसमें ५ हजारका टोटा नजर आये तो उसमें वह दुःखी होगा। यदि पहिलेसे ख्याल न जगे तो टोटा होनेपर भी इतना दुःख न होगा। तो बात जैसी है वैसी ही सोच लीजिए तो उसमें परमार्थसे क्लेश नहीं है। जितने समागम हैं वे सब अनित्य अनित्य ही दिखें तो कभी क्लेश न होगा। इष्टका वियोग हो गया तो झट यह ज्ञान जगेगा कि लो यह तो मैं पहिलेसे ही जान रहा था। जो जान रहा था वही हो गया। कुछ नया नहीं हुआ। तो अनित्य भावनाका यह बड़ा प्रसाद है कि जीवको क्लेश नहीं होता। हम पहिले से ही जान रहे थे कि सब अनित्य हैं। मर गया, मिट गया तो वही तो हुआ जो हम पहिले से जान रहे थे।

अशरणभावनाका प्रभाव--अब अशरण भावनाका प्रभाव देखिये कोई जीव बाह्य पदार्थोंको शरण मानते हैं। मेरे चाचा, पिता, पुत्र, मित्र ये सब बड़े सगाई हैं, ये लोग तो मेरे लिए जान तक भी देनेको तैयार हैं बड़े आज्ञाकारी हैं, स्वप्नमें भी ये मेरे खिलाफ नहीं हो सकते, इनका और मेरा एक चित्त है, ऐसा किसी के सम्बन्धमें विश्वास कर रखा हो और चूँकि ऐसा होगा नहीं। कौन किसका शरण है, कौन किसका सहाय है, कौन किसका क्या लगता है? सबका स्वतंत्र आत्मा है, सबका स्वरूप न्यारा है, सभी अपने आपमें परिणमते हैं। संसार अवस्थामें विषयकषायों का स्वार्थ लगा है, उस स्वार्थवश प्रेमका व्यवहार होता है। तो चूँकि शरण नहीं है ना और मान रखा है शरण। तो जब कभी वहां अपने को मदद न न मिलती हो या अपना काम न बनता हो तो उस समय इसे बड़ा कष्ट होता है। जिसे आप अपना विरोधी मानते हैं वह पुरुष आपका कुछ विरोध करे तो उसमें आपको खेद न होगा क्योंकि आप जान रहे थे कि यह हमारा विरोधी है। और, कोई हार्दिक मित्र हो, वह कोई विरोधकी बात कह दे तो उससे कितनी चोट लगती है? तो जो बात जैसी है उसे उस रूपमें न जान सके यह खेदका कारण है। और, सही जानकारी पहिले ही रहे तो इसे खेद नहीं हो सकता। यहां कोई शरण नहीं है, पुत्र हो, मित्र हो परिवार हो, वैभव हो, कोई हो मेरा कोई शरण नहीं है। परमेष्ठी भी व्यवहारसे शरण हैं। कहीं आपका हाथ पकड़कर या आपके आत्मामें पहुँचकर आपका भला कर दें प्रभु, ऐसा तो नहीं है। यह तो द्रव्यका स्वरूप

गुर्वोका पिण्ड है और जीव केवल एक है। ये कई चीजें बन गयीं, यह अनेक परमाणुओंका ढेर है। तो देखो शरीर शरीर मिलकर एक पिण्ड बन जाय और जीव जीव मिलकर कभी एक नहीं बन सकते। लेकिन इस मोही जीवको अन्य जीवोंमें कितना मोह बसा हुआ है जो कभी भी किसी भी ढंगसे एक नहीं हो सकते।

वस्तुस्वातन्त्र्यावोधका लाभ—वस्तुका स्वतंत्र स्वरूप है वह ध्यानमें आ जाय तो उससे बढ़कर और कोई शोभामयी चीज नहीं है। यहांकी भी चीजें सदा पास न रहेंगी, और मानो रह भी जायें पास और ज्ञान सही नहीं है तो सुख नहीं मिल सकता और ये पदार्थ न भी हों पास और ज्ञान सही है तो वहां सुख मिल सकता है। परमार्थसे विचार करो तो जो पराधीन है वह दुर्लभ है और जो स्वाधीन वस्तु है वह सुलभ है। जो पराधीन चीज है उसे तो यह मोही सुलभ मानता है और जो खुदकी चीज है उसे दुर्लभ मानता है। जब तक यह आत्मा अपने स्वरूपको नहीं जानता, कर्मोंके आधीन है तब तक अपना स्वभाव पाना इसे अत्यन्त दुर्लभ हो रहा है। इस बोधिदुर्लभ भावनाको सोचकर हम अपने चित्तमें यह निर्णय बनायें कि जब एक किसी भी प्रकार हम अनेक खोटी स्थितियोंसे निकलकर आज मनुष्य हुए हैं, उत्तम जाति कुल प्राप्त हुआ है, बुद्धि भी मिली है, जैन शासन मिला है, सत्सगति मिल रही है तो कितना उत्कृष्ट अवसर मिला है ? अपना अपूर्व लाभ उठानेका भीतरमें विवेक बने, सम्यग्ज्ञानका प्रकाश हो, प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र स्वतन्त्र नजर आयें जिससे परसे उपेक्षा बने, अपने आपमें रुचि जगे, अपने आपमें मग्न हो सकें, ऐसा अपना भीतरी पुरुषार्थ बन सके तो वह समझिये कि सच्चा पुरुषार्थ है और इसीसे ही हमारा मनुष्य होना सफल है।

दीप्यन्नाभिरयं ज्ञानी भावनाभिर्निरन्तरम्।
इहैवाप्नोत्यनातङ्कं सुखमत्यक्षमक्षयम् ॥२४२॥

द्वादश भावनाओंमें अनित्यभावनाका प्रभाव—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म, ये बारह भावनाएँ हैं। इनके भाने से ज्ञानी जीव इस लोकमें भी बाधारहित होता है और अतीन्द्रिय, अविनाशी सुखको भी प्राप्त करता है। जीवका उपयोग संभालनेका सुगम साधन भावनायें माना है। बताया है कि ये भावनाएँ जैसे जैसे जगती हैं वैसे ही वैसे समता प्रकट होती है। जैसे-जैसे हवा लगती है वैसे ही वैसे अग्नि सवेग जलती है तो जैसे अग्निके जलनेका साधन हवा है ऐसे ही समताके जगनेका साधन भावना है। जब तक इस जीवको इन पदार्थोंमें नित्यताका कुछ विश्वास है तब तक यह

हों तो भी मानते रहें कि संसार सुखमय नहीं है। यह सुख क्या सुख है जो कर्मोंके आधीन है। दूसरे जीवोंके विषयोंके साधनोंके आधीन है, जिनमे दुःख भी बसे हुए रहते हैं, जिन सुखोंके भोगनेसे पापका बंध होता है और आगामी कालमें पापोंका फल भी भोगना पड़े ऐसा सुख क्या सुख है। ऐसा ज्ञान बनाये रहें और सुखमें न रहें तो भी हानि नहीं है। परपदार्थोंके स्वरूपका ज्ञान उलटा हो तो नियमसे दुःख है।

अनित्य, अशरण, भावनामे अन्तःमर्म—अब जरा इन भावनाओंमें कुछ छिपे हुए मर्मकी बात देखो। अन्यथा भावना भाते रहे कि सब अनित्य है, राजा, राणा, क्षत्रपति सभी मरेंगे, हम भी मरेंगे सब विनाशीक हैं, ऐसी भावना भावना भाते ही रहे तो शान्ति क्या मिल पायगी, इससे तो एक घबड़ाहटसी आ जायगी। तो अनित्य अनित्य सोचते रहनेसे ही शान्ति न मिलेगी। अब दूसरे तरफकी बात कह रहे हैं। पहिले यह बताया था कि सबको अनित्य जानते रहें तो दुःख न होगा। अब यह कह रहे हैं कि अनित्य अनित्य ही जानते रहे, सभी मरेंगे, सभी मिटेंगे, तो उसमें सुख कहाँसे आयगा? तो इसके साथ यह भी भावना भाना चाहिए कि मेरा जो नित्यस्वरूप है वह कभी न मरेगा। इतनी बातका पता न हो और अनित्य ही सोचते जावो तो अनित्य भावनाका फल नहीं मिल सकता। समस्त पदार्थ पर्यायदृष्टिसे अनित्य हैं, पर द्रव्यदृष्टिसे वे सब नित्य हैं। यह दुहरी बात दोनों नयोंकी बात समझमें हो तो अनित्य भावनासे कुछ फायदा है। अशरण भावनामें क्या सोचा था कि कोई मेरा शरण नहीं है। उससे फायदा था, लेकिन यही यही सोचते जायें, मेरा कोई शरण नहीं, सब धोखा देने वाले हैं, छल करने वाले हैं, ऐसा ही सोचते रहें तो शान्ति कैसे मिलेगी। यह भी कुछ ज्ञान होना चाहिए कि ये सब शरण तो हैं नहीं, पर मेरे कोई शरण है भी कि नहीं। मेरे लिए मेरा आत्मा शरण है। जो ज्ञानानन्दस्वरूप हो उस स्वभावकी दृष्टि जगे वह शरण है। तो दोनों बातें ध्यानमें रहनी चाहिएं। परपदार्थ कोई भी शरण नहीं और रागादिक परभाव भी मेरे शरण नहीं, किन्तु मेरा जो सहज स्वरूप है, ज्ञानानन्द स्वभाव है वह स्वभाव मेरेको शरण है। इस शरणका पता हो तो अशरण भावना भानेमें प्रगति मिलेगी, नहीं तो अशरण भावना भानेका कोई फल नहीं है। तीसरी भावना है संसार। यह संसार दुःखमय है, दुःख ही दुःख है, ठीक है, इस भावनासे लाभ है, पर आनन्दकी भी कोई वस्तु है, आनन्दका भी कोई तत्त्व है इसका कुछ भी परिचय न हो तो शान्ति कहाँसे आये? जब यह विदित हो कि मेरा स्वरूप स्वयं 'शान्तिमय है, आनन्दमय है, आनन्दका यह पिण्ड है, आनन्द

ही है । कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता । तो जब लोकमें मेरा कोई शरण नहीं है और फिर माने हम शरण तो उसमें क्लेश होता है । तो अशरण भावनाके प्रसादसे समता जगती है । कोई नहीं हो रहा शरण तो समता रखता है क्योंकि हम समझते ही थे और बात है भी यह कि किसीका कोई शरण नहीं है । परवस्तुको शरण माने तो समता नहीं जग सकती ।

संसारभावनामें अनुप्रेक्षण—तीसरी है संसारभावना । संसार दुःखमय है । कहीं भी किसी भी जगह कुछ भी शान्ति अथवा आनन्द बरस रहा हो तो बतावो । अगर है भी तो संसारके प्रतापसे नहीं है क्योंकि आत्मस्वरूपमें लगाव है उसे संसारी न समझिये । वह तो संसारसे विदा होने वाला है । संसारमें कोई सुखी नहीं है । करोड़पतियोंको, अरब पतियोंको सभीको देख लो, अधिकारियोंको मिनिस्टरोंको देख लो, कोई मिनिस्टर जिम्मेदारी महसूस करता है तो देशके सुखी रहनेकी चिन्तामें वह दुःखी रहता है, किसी मिनिस्टरको धनसे घर भरनेकी चिन्ता है तो वह रात दिन धन कैसे मिले, इस चक्करमें रहता है, रिश्वत ले, पक्ष करे, चालबाजी करे, दूसरोंसे बचनेका उपाय सोचे यों रात दिन व्याकुल रहता है । जो गरीब है वह अपनेको गरीबीसे दुःख महसूस करता है । संसारमें कोई सुखी नजर नहीं आता । यदि कोई पंडित है तो उसके उस ढंगका दुःख है । कहीं ऐसा न हो जाय कि किसी सभामें हम किसीसे हार जायें, हम किसीके प्रश्नका उत्तर न दे सकें तो क्या हाल होगा, उनके यह चिन्ता लगी रहती है जो विद्वान हैं, समझदार हैं । और, जो मूर्ख है वे उनके प्रतापको देखकर मन ही मन कुढ़ा करते हैं । सो यहां कोई जीव सुखी हो तो बतावो । यह तो मनुष्योंकी बात है । तिर्यञ्चोंमें पशु, पक्षी, कीड़े, पेड़ सभी देख लो दुःखी हैं । तो संसार है दुःखमय और कोई माने कि हमें तो बड़ा सुख है तो यह उनकी उल्टी मान्यता है । इस संसारमें रहते हैं तो रहनेके कारण जो अपनेको सुखी माने उसको नियमसे क्लेश होगा, क्योंकि सुख है नहीं और उसे मान लिया सुख । जो काल्पनिक सुख है वह रहता तो है नहीं, और जितने दिनोंको मिला है उतने दिन भी लगातार सुख नहीं है । कोईसा भी सुख ले लो, स्त्रीका सुख है, नव विवाह हुआ है, बड़ा काल्पनिक मौज माना है, पर थोड़े-थोड़े समयमें ही कोई न कोई दुःखकी कल्पनाएँ जग जाती हैं, और फिर जब बड़े हो गए, सन्तान हो गई तो सबके पालन पोषण करनेकी बात आ गई, कोई प्रतिकूल हो तो उसे मनाना, सबकी बात सुनना, सबमें दुःख । तो सुख तो है नहीं और माने सुख तो उसे नियमसे क्लेश है, तो कर्तव्य यह है कि सुखी भी

मेरे तो इतना कुटुम्ब है, मेरे तो इतना वैभव है, मेरे इतने मित्रजन हैं, वहाँ शान्ति न मिल सकेगी, क्योंकि दृष्टि निजको छोड़कर परकी ओर लगी है और पर हैं सब भिन्न, पर हैं सब विनाशीक, वे जुदे होंगे नष्ट होंगे तब यह खेद मानेगा। लोकव्यवहारमें भी देखो—जब घरका कोई इष्ट गुजर जाता है तो मित्र लोग रिश्तेदार घर वालों को समझाने आते हैं। तो आखिर ऐसी कौनसी बात समझाने की होती है जिस घर वालों का दुःख दूर हो जाय? समझाना तो यह चाहिए कि वह जीव अकेला था, अकेला चला गया, इसमें क्या दुःख मानना, पर यह न समझा कर लोग क्या कहते—वह तो बड़ा उपकारी था, सबकी खबर रखता था, सब को चाहता था, यों उसके गुण गा गाकर घर वालोंको और दुःखी करते हैं। तो यह एकत्व भावनाका ही प्रसाद है कि निजस्वरूपमें उपयोग जमता है और बड़ा आनन्द बरसता है।

अशुचिभावनामें तत्त्वानुप्रेक्षण—अशुचि भावना—यह देह अपवित्र है, घिनावना है, भीतरसे लेकर बाहर तक सर्वत्र मल ही मल है हड्डी है, मांस है, मज्जा, खून, चमड़ा, रोम, मल, मूत्र आदि हैं, यों सारी गंदी ही गंदी चीजें हैं। यह भावना किस लिए भाई थी कि इस शरीरसे प्रेम न उत्पन्न हो। किसी शरीरको निरखकर उसमें काम व्यथा न हो इसलिए अशुचि भावना भाई है। अब कोई पुरुष अशुचि अशुचि ही गाता रहे, यह भी अपवित्र, यह भी अपवित्र, यों कह कह कर नाक सिकोड़े तो उसने अशुचि भावनासे कुछ भी लाभ नहीं पाया। जो शुचि चीज है वह मेरा ज्ञान है, उत्कृष्ट, पवित्र, अमूर्त है, ज्योतिस्वरूप है, जानन जिसका काम है। जाननहार ऐसा शुद्ध पवित्र मेरा स्वरूप वह शुचि है। यह निरखना चाहिये तो पावन आत्मतत्त्वका लाभ होगा। शुचिका तो पता न हो और बाहरकी इन चीजोंको गंदी ही गंदी देखते रहें तो उस अशुचि भावनामें कोई लाभ नहीं पाया जा सकता। एक अपना ग्लानिका ही परिणाम बनाया अशुचि भावनाके लिए शुचि भी कुछ है उसका परिचय हो तो यह परसे हटकर अपने आपके स्वरूपमें लगाने वाली भावना है।

आस्रव, संवर, निर्जरा भावनामें प्रेक्षण—आस्रव भावना—रागद्वेष मोह, ये सब आस्रव भाव हैं, इनके कारण कर्म आते हैं, ये स्वयं परापेक्ष हैं, कर्मोदयसे रागादिक भावास्रव होते हैं। यह आस्रव दुःखदायी है। तो आस्रव दुःखदायी हैं इसके साथ यह भी पता हो कि आस्रवरहित मेरा स्वरूप है। यदि स्वरूपका ही ज्ञान हो कि ये मैं हूं और ये मेरेमें आस्रव हैं तो आस्रवसे छूटे कैसे? रागद्वेष ये आये हैं निमित्त पाकर, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। यों निरास्रव स्वरूपकी भावना भाने से शान्ति मिलती है।

से रचा है, और इसके अतिरिक्त बाकी समस्त स्थितियां दुःखमय हैं, ऐसी दोनों बातें ज्ञात हों तो संसार भावनाका फल है।

अपने आपकी संभाल बिना शान्तिकी असंभवता—भैया ! खूब आप अनुभव कर लीजिए, अपने आपको सम्हाले बिना, अपने आपकी दृष्टि हुए बिना जैसा स्वयं ज्ञानानन्द स्वरूप है, कृतकृत्य है उसका मर्म पाये बिना किसी भी स्थितिमें शान्ति हो सकती हो तो देख लो। वैभवका क्या है ? जितना है उससे ५० गुना भी आ जाय तो उसमेंसे आनन्द तो नहीं निकलता। इसमेंसे कभी शान्तिकी किरण तो नहीं फूटती। धन वैभवसे शान्ति तो मिलती नहीं, एक निर्णय है। शान्तिका कारण तो केवल अपने ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि है। मुझे जगतमें कुछ काम करनेको नहीं है, मुझे जगतमें कुछ भी भोगनेको नहीं है, मैं कृतकृत्य हूं, मेरा स्वरूप परिपूर्ण है, ज्ञानानन्द है, ऐसी अपने आपकी परिपूर्णता ध्यानमें आये तो शान्ति मिलेगी, अन्य बातोंसे शान्ति नहीं, मिलती। शत्रुसे बोलचाल करे वहां भी शान्ति नहीं और स्त्री, पुत्र, परिवारसे भी बोलचाल करे वहाँ भी शान्ति नहीं, अशान्तिके वे दो प्रकार हैं। विरोध की बातमें और तरहकी अशान्ति है और परिवारके राग की बातोंमें और तरहकी अशान्ति है। तो इन भावनाओंसे इस जीवको बड़ा उपकार है। इन भावनाओंके प्रसादसे जीव एक ज्ञानानन्दको प्राप्त करता है।

अन्यत्वभावनागर्भित एकत्वभावनाका प्रभाव—मैं सर्वत्र अकेला हूं, मेरा कोई साथी नहीं, मेरा कोई सम्बन्धी नहीं, इस भावनामें दुःख तो कम है, लेकिन कोई जीव अपने को अमुक नाम वाला मानकर जिसमें सुख दुःख की बात बीत रही है उसे मानकर उसे अकेला समझे तो उसने कभी परमार्थ आनन्द नहीं पाया। जैसे घरमें जब झगड़ा हो जाता और कोई किसी प्रकारका छल कपट करता तो यह झुँझलाकर कहने लगता—हटो, यहां किसीका कोई नहीं है, तो क्या यह ज्ञानसे कह रहा है ? वह तो दुःख की झुँझलाहट है। मेरा कोई नहीं है, मैं तो अकेला ही हूं ऐसा बोलता है यह मोही जीव, पर वह झुँझलाहट है। रागादिक भावोंसे भी भिन्न केवल ज्ञायकस्वरूप अपने आत्माको निरखकर परमार्थ एकत्वकी बात कहे यह है परमार्थसे एकत्वकी भावना और इस शरीरको निरखकर बोले कि मैं तो अकेला ही हूं, मैं तो अकेला पड़ गया, तो ऐसे इस प्रयोजन वाले को अकेला माननेमें एकत्व भावना नहीं आयी। वह भी है भावना, मगर परमार्थसे जैसा मैं सहज ज्ञानानन्दस्वरूप हूं उस अकेलेपनको निरखे तो एकत्व भावना है। आप जब अपने अकेलेपनका ध्यान करने लगेंगे तब शान्ति आयेगी और जब आप अपने दो आडम्बर वाला अनुभव करेंगे,

लगता कि ये कितने मूढ हैं। अरे क्या, हो गया, आये तो क्या न आये तो क्या ? उनका मोह तो झट अपनी समझमें आ जाता है। तो जैसे उनके लिए हम दूसरे हैं और समझाते हैं फिर भी समझमें नहीं आता, मोह ऐसा बनाया है तो हमारे लिए वह दूसरा है। हम भी कहीं मोह बनाये हैं, राग बनाये हैं, राग बनाये हैं तो दूसरे लोग हमारे विषयमें भी सोचते न होंगे क्या ? सबकी यही दशा है। दूसरेके आखकी फुली भी जल्दी नजरमें आ जाती है, पर अपनी आखका टेंट भी नजर नहीं आता। दूसरेकी गल्ती मोह है, विकट अज्ञान है, झट समझमें आता है, खुद क्या कर रहे हैं यह बात अपनी दृष्टिमें नहीं आती। बारह भावनाओंका अभ्यास हो तो ये छहों शत्रु विलीन हो जायेंगे।

बारह भावनासे संताप रूप कामकी शान्ति—काम भी कितनी विकट अग्नि है। कामको अग्निकी ही उपमा दी है। कामका संताप बुरा होता है उसकी १० बुरी दशायें होती हैं। और जबसे किसी कामविकारकी धुना लग जाय तबसे संताप बढ़ बढ़ कर अन्तमें १०वीं दशा मृत्यु है वह हो जाती है। जरासा कोई स्त्रीका कन्याका चित्रपट देखा, पुराणोंकी बात सुन लो तो बडे बडे राजाओंके बडे समर्थ पुत्रोंने आहार छोड़ दिया, हम भोजन न करेंगे जब तक यह न मिलेगी। ऐसी बात यदि यहाँ कोई करे तो उसे कितना पागल बतायेंगे, लेकिन मोहियोंके संग थे सो मोही परिवार ने उसे आदर दिया। मेरा राजपुत्र यह चाहता है, चढाई करें और उस राजाकी कन्या लावें तो यह सब कामकी विडम्बना है। वे समर्थ लोग थे, शक्तिशाली थे इसलिए वे ऐसे कार्य करते थे। यहा अशक्त हैं तो लोग गदी तरहसे विडम्बनाएँ करते हैं, पर कामकी अग्नि भी बडा संताप करने वाली है। तो काम बैरी भी परास्त हो जाता है, जो बारह भावनाओंका अभ्यास करता है।

बारह भावनासे कषायोंका शमन—जो इन बारह भावनाओंका अभ्यासी है वह कषायोंको सबको शान्त करता है। तत्त्वका जहां चिन्तन है, अनित्यताका जहा परिचय है, अपने संवर स्वरूपका जहा ध्यान है, अपने एकत्वका विचार है। यों ही सभी भावनाओंकी बात है वहां यहा किसपर क्रोध करे ? खुद ही तो बड़ी विपत्तिमें पडे हुए हैं जो अपना चिन्तन करता है उसके क्रोध नहीं ठहरता, घमंड भी वह क्या करेगा। अज्ञानमें ही तो मद पैदा होता है। जिसने अपने एकत्वस्वरूपका परिचय कर लिया और उस ही स्वरूपकी जो भावना रख रहा है वह कैसे घमंड करेगा ? तो जो ज्ञानी पुरुष हैं उसके मान कषाय भी नहीं ठहरती। मायाचारका तो प्रयोजन ही क्या ? मायाचार तो वह करता है जो अपना ऐस

संवरभावना—मेरा स्वरूप संवररूप है। इसमें किसी भी परतत्त्वका प्रवेश ही नहीं है, ये मेरा स्वभाव है। स्वभावकी भावना भाने से बहुतसे विकल्प, संकल्प, खेद चिन्ता ये दूर हो जाते हैं। यद्यपि मेरा संवर स्वरूप है फिर भी अनादिकालीन कर्ममलीमसताके कारण जो रागादिक आये हैं, संस्कार बसे हैं, कर्म बँधे हैं वे झड़ सकते हैं। और वे स्वरूपकी सभाल करने से झड़ जाते हैं, खेदकी कुछ बात नहीं। आये हैं तो इनके झड़ानेकी भी हम में कला है। अपने स्वरूपकी सभाल करके उन कर्मोंको छुड़ा दें इसका नाम निर्जरा है।

लोक, बोधिदुर्लभ, धर्मभावनाके विचार—लोकभावनामें विचार लो कि इस लोकके प्रत्येक प्रदेश पर अनन्तवार जन्म मरण हुआ, अब कहा जाना, क्या देखना, कहा रमना, किसे अपना ठौर मानना? यह लोकभावना है। जगतमें रुलते रुलते नाना कुयोनियोंमें भटकते भटकते आज मनुष्य हुए हैं, बुद्धि जगी है, सत्समागम मिला है, जैनशासन मिला है, बड़ी दुर्लभता से ये चीजें प्राप्त हुई हैं। अब इस उत्कृष्ट मानव जीवन को यों ही नहीं व्यर्थमें खो देना है। इसकी सभाल करना, यह बोधिदुर्लभ भावना है। धर्मका स्वरूप विचारना, धर्मका फल, धर्मकी महिमा जानना, धर्म ही शरण है, धर्मसे ही शान्ति है इन बातोंका चिन्तन करना धर्मभावना है। यों बारह भावनाओंको भा करके यह जीव लोकमें भी सुख शान्ति पाता है और परलोकमें भी आनन्द प्राप्त करता है।

विध्याति कषायाग्निर्विगलति रागो विलीयते ध्वान्तम्।
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसा भावनाभ्यासात् ॥२४३॥

द्वादश अनुप्रेक्षावोंका फल—बारह भावनाओंका निरन्तर अभ्यास करने से पुरुषोंके हृदयमें कषाय रागकी अग्नि तो बुझ जाती है और परद्रव्योंके सम्बन्धमें रागभाव गल जाता है और अज्ञानरूप अधकारका विलय होता है, ज्ञानरूप दीपका प्रकाश होता है। भावनाओंके अभ्यासके इसमें ४ फल बताये गए हैं। कषायअग्नि शान्त होती है। जो पुरुष अनित्य आदिक बारह भावनाओंमें अपनी दृष्टि लगाये रहते हैं उनके कषाय अग्नि नहीं जग सकती है। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह ये ६ जीवके आन्तरिक शत्रु हैं, सो देख ही रहे हैं। दूसरोंको देखकर बहुत जल्दी निर्णय होगा। यह जल्दी असार जँचने लगता है। देखो यह व्यर्थका मोह किए हुए हैं। जैसे किसीका लड़का भाग जाय, सालोंसे पता न पड़े तो उसको माँ और पिता निरन्तर विह्वल बने रहते हैं। ५-७ वर्ष भी हो गए कोई पत्र भी नहीं आया, फिर वे निरन्तर दुःखी रहते हैं। कितना ही उन्हें समझाओ, पर बात उनकी समझमें नहीं आती। तब अपनेको ऐसा

बारह भावनासे अज्ञानान्धकारका विनाश—तीसरा फल बताया है कि बारह भावनाओंके अभ्याससे अज्ञानरूपी अंधकारका विलय हो जाता है। बारबार दृष्टिका जाना इनका ही नाम भावना है। जिसने तत्त्वका निर्णय किया है उस स्वरूपपर बारबार दृष्टि पहुचते रहनेका नाम भावना है। जसे वैद्य लोग औषधि बनाते है तो उसमें भावनारस भी देते है, आवलेसे भावना वाला चूर्ण बनाते हैं तो पहिले सूखे आवलेका चूर्ण निकाला फिर अनेक बार कच्चे आवलेके रससे उसको भिगोते है। वैद्य लोग भी भावना वाला चूर्ण देते हैं। तो बारबार उस रससे भिगोनेका नाम भावना है, इसी प्रकार तत्त्वज्ञानके रसमें बारबार अपने को भिगोनेका नाम भावना है। तो जो निज ज्ञायकरसमें अपने को भिगोता रहता हो उसके अज्ञान नहीं ठहर सकता है। अज्ञान उनके ठहरता है जो बाह्यपदार्थोंमें अपनी वासना बनाये रहते हैं। तो जो बारह भावनावोंके अभ्यासी है उनके अज्ञान अंधकार नहीं ठहरता।

बारह भावनाके अभ्याससे ज्ञानदीपका प्रकाश—चौथा फल बतला रहे हैं कि बारह भावनावोंके अभ्यासीको ज्ञानका दीपक प्रकाशित होता रहता है, जैसी दृष्टि होती है वैसी सृष्टि बनती है। सृष्टिका साधना भी दृष्टि ही है। जैसा चित्तमें आशय है वैसा ही इस पर गुजरता है। बात त बिल्कुल सीधी सी है। कोई मनुष्य पापका काम करता है तो लोकव्यवहार में यह कहते हैं कि यह परभवमें फल भोगेगा, पर वास्तवमें तो उस ही क्षण उसने उस पाप क्रियाका फल भोग लिया। उस समय क्षोभ हुआ, विकार हुआ, अज्ञानकी विह्वलता हुई, कुछ डर सा हुआ, जो भी हुआ हो वह सबका उसने उसी समय भोगा। अब निमित्तनैमित्तिक भावोंमें जो कर्मबन्धन होता है उसके उदय कालमें फिर भोगेगा वह उस समय की क्रियावोंका परिणाम भोगेगा। तो जब दृष्टि विपरीत होती है तो अज्ञान भावसे वह आवृत हो जाता है और जब दृष्टि सही होती है तो ज्ञानका दीपक प्रकाशित होता है। बारह भावनाओंके प्रकरणमें यह उपसहार चल रहा है। इस उपसंहारमें उन बारह भावनाओंके भानेकी महिमा और फल बताकर आचार्यदेव ने जिज्ञासु पुरुषोंको तत्त्व चिन्तनके लिए बारबार प्रेरणा की है।

> एता द्वादश भावनाः खलु सखे सख्योऽपवर्गश्रिय।
> स्तस्याः सङ्गमलालसैर्घटयितु मैत्री प्रयुक्ता बुधै ।।
> एतासु प्रगुणीकृतासु नियत मुक्त्यङ्गना जायते।
> सानन्दा प्रणयप्रसन्नहृदया योगीश्वराणा मुदे ।।२४४।।

बारह भावनाओंमें मुक्तिकी सख्यता—ये बारह भावनाएँ मुक्तिरूपी

लक्ष्य बनाये हैं कि मुझे तो यहीं रहना है और यह सब स्थिति हमारी है, इसे बढ़ाना है तो मायाचार करेगा। ज्ञानी पुरुष तो यों जानता है कि हम एक सरायमें ठहर गए हैं। यहाँसे तो निकलना ही पडेगा। यहा घर तो नहीं बस सकता। तो सराय जैसा ज्ञानी पुरुष मानता है। और सराय में तो कुछ विनय करने से कुछ म्यादके बाद भी समय दिया जा सकता है लेकिन यह सराय तो ऐसी है कि म्याद पूरा होने पर फिर क्षण भर भी नहीं टिक सकता। तो जो यहाँ अपना स्थान नहीं मान रहा है वह मायाचार क्या करेगा? इसी प्रकार लोभकी बात है। किसलिए लोभ करना और उसके लोभ यों भी नहीं होता है कि उसे सब पता है कि कैसे सम्पदा आती है और कैसे जाती है, उसे सब सिद्धान्तका पता है। आना होता है आता है, जाना होता है तो जाता है। सब पुण्य पापका ठाठ है। लोभ से धन नहीं जुड़ता। तो ऐसी लोभकषाय भी ज्ञानी पुरुषके नहीं रहती। यों बारह भावनाओंका अभ्यास रखने से कषायें शान्त हो जाती हैं।

बारह भावनासे रागका गलन- बारह भावनाओंके अभ्यासका दूसरा फल बताया है कि परद्रव्योंके प्रति रागभाव गल जाता है। किसमें राग करना? जिसके यह भावना चल रही है, सब भिन्न हैं, सब विनाशीक हैं, सब अहितरूप हैं, सब कर्मबंधके कारण हैं उस पुरुषको किससे राग रहेगा? कुछ लोग इसलिए भी राग छोड देते हैं कि जब मरणासन्नसे हो जाते हैं, अथवा बड़ी तीव्र वेदना है तो वे कहने लगते कि हमें अब किसी चीजमें राग नहीं रहा, किसीमें मोह नहीं रहा, मेरा अब अच्छी तरह मरण ऐसा हो जाय, कहते हुए बहुतों को देखा होगा। पर क्या आप उसकी बातको सच मान लेंगे? वह तो यह सच इसलिए कह रहा है कि उस समयकी वेदना उसे असह्य है। राग मोह कम नहीं हुआ है। क्योंकि जो कल तक मोही था, रागी था वह एकाएक कैसे निर्मोह हो गया, क्या उस का ज्ञानसूर्य चमक गया? वहा वेदना इतनी तेज है कि उसे कुछ भी नहीं सुहाता है। जरा भी आराम हो जाय तो फिर उसकी प्रवृत्ति देख लो। वही हालत, वैसा ही मोह और अधिक राग आपको दीखेगा। जब तक तत्त्वज्ञान नहीं जगता तब तक वास्तविक मायने में राग मिटता नहीं है। यह तो परिवर्तन हो गया। आज जानपर आ गयी तो घरबारको कौन देखे। तो मोहका परिणमन हुआ है, मोहका अभाव नहीं हुआ। मोहका अभाव तो जो तत्त्वज्ञानी हैं, बारह भावनाओंके अभ्यासी हैं उनके होता है। दृष्टि भर बदलनी है तो सम्यक्त्व हो गया। अपने आपका भाव ही तो बदला और शान्ति मिल गयी। तो जिसे तत्त्वज्ञान हुआ है और उस तत्त्वकी भावना करता है उस पुरुषके मोहभाव नहीं ठहराता।

अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है, लेकिन मोक्ष नाम सबको जाननेका नहीं है, लेकिन मोक्ष नाम सबको जाननेको नहीं है, किन्तु केवल निज सहज स्वरूप रह जानेका नाम मोक्ष है। तो जहाँ केवल रह गया, सहज स्वरूपमे वस गया वहाँ उसे अनन्त आनन्द उत्पन्न होता है। इस ग्रन्थमें मुख्यता से ध्यानका वर्णन चलेगा। ध्यानके लिए इतनी तैयारी बनाना इसके लिए बारह भावनाओंका वर्णन किया है। बहुतसे लोग यों कहते हैं कि हमारा चित्त धर्म कार्यमें नहीं ठहरता और यत्र तत्र भ्रमण करता रहता है। तो क्यों भ्रमण करता है और चित्त यहा वहां न डोले इसका उपाय क्या है ? तो भ्रमण तो यों हुआ करता है कि उनके चित्तमें राग और मोह वसा है। राग मोहका विषय एक होता नहीं, वह विषय बदलता रहता है। विषय भी विघटित होते रहते हैं। जब तीव्र पापका उदय चल रहा हो तो इन बारह भावनाओंके भानेसे सारी समस्या हल हो जाती है। चित्त आत्मा की ओर लग जाता है। तो इन ध्यान वाले ग्रन्थोंमे ध्यानकी पात्रता बनाने के लिए बारह भावनाओंका वर्णन किया है।

बारह भावनाओंसे आत्माकी मुक्तिपात्रता—ये बारह भावनाएँ संसार, शरीर और भोगसे वैराग्य उत्पन्न कराने वाली हैं। ससारके मायने अपने भीतरका परिणाम। जिस कल्पनामें बसे रहते हैं और जिन कल्पनाओंमें विगडे रहते हैं, अपराध किया और अपराधको अपराध न माना, यही है ससारका राग। और अपराध बना और उसे अपराध माना ऐसा तो करना चाहिए, तो वह है ससारका वैराग्य। तो ससारका अर्थ विभाव परिणाम है। उन विभावपरिणामोंसे वैराग्य होना, इस वैराग्य उपजाने का नाम है वैराग्य भावना। तो बारह भावनाओंके चिन्तवनसे शरीरसे भी विरक्ति होती हैं और भोगोंसे भी विरक्ति होती है। भोगोंके मायने ये बाहरी मिले हुए सब भौतिक पदार्थ। पुद्गल, रूप, रस, गध स्पर्श और शब्द। ये इन्द्रियोंके भोग है, तो इन भोगोंसे भी विरक्ति उत्पन्न होती है। तो ससार देह भोगोंसे वैराग्य करानेके लिए इस जीवको बारह भावनाओं उपदेश किया गया है। इन बारह भावनाओंमें बहुत सक्षेपमें हम यह शिक्षा लें कि इस जीवने अब तक पर्याय बुद्धिका, द्रव्यदृष्टि नहीं की, अपने नित्यस्वरूपको नहीं निरखा। इस जीवने अब तक परका शरण तो चाहा पर निजके शरणकी सुध नहीं ली। इस जीवने शरीरके दुःखोंको सुख मानकर उनमें ही मस्ती की। कभी कोई अपनेको अकेला न सोचे, अपनेसे पर को न्यारा न सोचे, और उन्हीं खोटी वासनाओंसे कर्म बन्ध होता रहा। अब इन सबके मिलनेका उपाय संवर है। और निर्जरा है। निर्जराके प्रतापसे ध्यानकी बुद्धि होती है। इतना सब मिल गया, अब कहीं लोके

लक्ष्मीकी सखी हैं। जैसे सखियोंका काम मेलमिलाप कराना होता है ऐसे ही बारह भावनाओंका काम मुक्तिरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति कराना है। यह बारह भावनाओंका बहुत विशाल स्वरूप है और प्रभाव है। छोटे से भी छोटे धर्माचरणकी इच्छा रखने वाले पुरुष इन बारह भावनाओंसे धर्मका प्रारम्भ करते हैं और बड़ेसे बड़े साधु भी बारह भावनाओंमें अपने धर्माचरणकी पूर्णता करते हैं। साधारणजन भी इन बारह भावनाओंको भाते हैं और बड़े बड़े साधु पुरुष भी इन बारह भावनाओंको भाते हैं, पर सबकी पदवीमें सबकी दृष्टिमें इन बारह भावनाओंका स्वरूप, फैलाव प्रभाव जुदे-जुदे और उत्कृष्ट होते जाते हैं। तो ये बारह भावनाएँ मुक्तिरूपी लक्ष्मीकी सखी हैं। तथा यह मित्रता करने के लिए एक प्रयोगरूप है। जैसे किसी की प्रसन्नता चाहिए हो, किसी की मित्रता चाहिए हो, कृपा चाहिये हो तो उसके लिए कुछ व्यवहार बनाना पड़ता है ना, कोई प्रयोगरूप उपाय करना पड़ता है। तो मुक्तिरूपी लक्ष्मीका समागम करने के लिए ये बारह भावनाएँ बहुत उत्तम हैं। यह मित्रताका प्रयोग है। यों ही कोरे लट्ठसे बैठ जाये, यों ही ऐंठे रहें, यह तो किसीसे मित्रता करनेका ढंग नहीं है। ढंग होता है हित मित प्रिय वचन बोलना, उसके चित्तको सुहाये ऐसी बात बोलना, यह मित्रता का उपाय होता है लोकमें।

मुक्तिमें लक्ष्मीत्वका अलंकार—यहां मुक्तिरूपी लक्ष्मीकी प्राप्तिके लिए बारह भावनाओंका भाना प्रयोग बताया है और साधु पुरुषोंका इन बारह भावनाओंमें खासा प्रयोग होता है और गृहस्थजनोंको भी देखो—सबसे शुरूमें बच्चेको जब धर्म पढ़ाते हैं तो तीन चार पाठके बाद ही ये बारह भावनाएँ रख देते हैं। तो धर्मका प्रारम्भ भी इन बारह भावनाओंसे किया जाता है और इसकी पूर्णता भी इन बारह भावनाओंमें कर ली जाती है। तो इसका भाना मुक्ति समागमके लिए उसकी मित्रताके लिए प्रयोगरूप है। जो पुरुष इन भावनाओंका अभ्यास करता है उस पुरुषको यह मुक्तिरूपी वनिता आनन्द सहित प्रसन्न होकर आनन्दको देने वाली होती है। संसारीजनोंको समझानेके लिए उनकी ही भाषामें मुक्तिश्री बोला जाता है। वैसे तो कुछ वर्णन करते समय मुक्तिको स्त्रीका रूपक बनाकर और योगीश्वरको उसके दूल्हा बनाना, यह कोई बहुत शोभनीय बात तो नहीं है लेकिन मोही लोग जो स्त्रीको महत्व देनेके आदी हैं, इसे सांसारिक सुख समझते हैं उनके लिए यों भी कह दिया जाता है।

मुक्ति और मुक्तिपथमें भावनाओंका सहयोग—मुक्ति तो आत्माका एक विशुद्ध परिणाम है और जहां केवल ज्ञानस्वरूपका ही अनुभव रहता है, जो कि अतिशयी भी है इसके फलमें समस्त विश्वका ज्ञान हो जाता है,

पणामे चित्त न फँसे, स्वतंत्र विचारें और इतने पर भी हम अपने स्वरूप से विचलित न हो जायें, इसके लिए सावधानी बनाये रखनेको बोधिदुर्लभ भावना भाई। और धर्मभावना तो सबका प्रयोजन ही है। उस धर्ममें मग्न होनेके लिए योगियोंने इन बारह भावनावोंका चिन्तवन किया। हम आपका भी कर्तव्य है कि तत्त्वकी दृष्टि बनायें और इन बारह भावनाओंका चिन्तवन करके अपने आपको मुक्तिका पात्र बनायें।

❀ ज्ञानार्णव प्रवचन चतुर्थ भाग समाप्त ❀

मुद्रक—मैनेजर, जैनसाहित्य प्रेस, रणजीतपुरी, सदर मेरठ।